सन्मति-साहित्य-रत्नमाला का चालीसवाँ रत्न

ब्रह्मचर्य-दर्शन

प्रवचनकार—

कविरत्न पं० मुनि श्री अमरचन्द्रजी महाराज

सम्पादक—

पण्डित शोभाचन्द्रजी भारिल्ल, न्यायतीर्थ

प्रकाशक—

सन्मति ज्ञान-पीठ,

लोहामण्डी, आगरा।

सम्वत्	२०११
सन्	१९५४
मूल्य	२)

मुद्रक—

पं० नागेन्द्रनाथ शर्मा गोस्वामी,

दी कौरोनेशन प्रेस,

फुलहट्टी बाजार, आगरा।

प्रकाशकीय

साधु-मय सम्मेलन की पूर्व भूमिका के रूप में, सम्प्रदाय-गत वैमनस्य और विरोध के उपशमन हेतु, बम्बई स्थित स्थानकवासी जैन महासभा के आग्रह से तथा विशेषतः ब्यावर संघ की अत्यन्त भाव-भरी प्रार्थना से (तत्कालीन उपाध्याय) श्रद्धेय पं० मुनि श्री अमरचन्द्रजी महाराज आगरा से देहली होते हुए उग्र विहार करके ब्यावर पधारे, चतुर्मास के लिए।

कवि श्री जी स्थानकवासी समाज के सुप्रसिद्ध लेखक, कवि और विचारक तो हैं ही, परन्तु प्रवक्तृत्व गुण भी उनमें सहज रूप में ही विद्यमान है। आपके प्रवचनों में वस्तु का दार्शनिक रूप से सूक्ष्म विश्लेषण होते हुए भी सरसता और मधुरता पर्याप्त रूप में रहती है। श्रोता कभी ऊबता नहीं है। और यही है, प्रवक्ता के प्रवचनों की सफलता, जिसमें कवि श्री पूर्णतः सफल और सिद्ध-हस्त हैं।

अस्तु, राजस्थान में यद्यपि कवि श्री जी नए ही थे, परन्तु उनके प्रवचनों की सरलता, मधुरता, स्पष्टता तथा हृदयग्राहिता ने श्रोताओं को सहसा रस-मुग्ध कर दिया। अतएव ब्यावर संघ ने

प्रवचनों के रूप में कवि श्री की बहती हुई इस अखण्ड वाग्धारा को लिपिबद्ध कराने का शुभ संकल्प किया, जिसका सुफल प्रस्तुत पुस्तकों के रूप में जनता के सामने है।

पाठकों के समक्ष कवि श्री जी की उक्त ब्यावर प्रवचन माला में से 'अहिंसा-दर्शन', 'सत्य-दर्शन', 'जीवन-दर्शन' और 'अस्तेय दर्शन' के रूप में चार पुस्तकें आ चुकी हैं। अब हमें 'ब्रह्मचर्य-दर्शन' के रूप में ये पाँचवी पुस्तक भी पाठकों के सम्मुख रखते हुए महान् हर्ष हो रहा है।

कवि श्री जी के प्रवचनों में आप अहिंसा, सत्य, अस्तेय, और मानव जीवन के सम्बन्ध में बहुत कुछ जीवन प्राप्त कर सके होंगे। आशा है, अब पाठक ब्रह्मचर्य के सम्बन्ध में भी आगम परम्परा पुर:सर नया दृष्टिकोण पढ़कर अपने जीवन की बहुतसी उलझी हुई समस्याओं को सुलझा सकेंगे।

रतनलाल जैन,

मन्त्री, सन्मति ज्ञान-पीठ,

आगरा।

विषय-सूची

—: ❀ :—

तवेसु वा उत्तम-बंभचेरं ।

—सूत्रकृताङ्ग

तपों में उत्तम तप ब्रह्मचर्य है ।

× × × ×

ब्रह्मचर्येण तपसा देवा मृत्युमपाघनत ।

—अथर्व वेद

ब्रह्मचर्य के द्वारा दिव्यात्माओं ने मृत्यु को जीता ।

ब्रह्मचर्य-दर्शन

आत्म-शोधन

मानव-जीवन का विराट रूप हम सबके सामने है। जब हम उसका गहराई से अध्ययन करते हैं, तो उसमें अच्छाइयों और बुराइयों का एक विचित्र ताना-बाना हमें परिलक्षित होता है। एक ओर आध्यात्मिक भावना की पवित्र एवं निर्मल धाराएँ प्रवाहित होती नजर आती हैं तो दूसरी ओर दुर्वासनाओं की गन्दी और सड़ती हुई नालियाँ भी बहती हुई दृष्टिगोचर होती हैं। एक ओर सद्‌गुणों के फूलों का बाग़ खिला है तो दूसरी ओर दुर्गुणों के कांटों का जंगल भी फला है। एक ओर घना अन्धकार घिरा है तो दूसरी ओर उज्ज्वल प्रकाश भी चमक रहा है। दैवी और आसुरी भावनाओं का यह देवासुर-संग्राम मानव-जीवन के रोम-रोम में व्याप्त है।

मतलब यह है कि मनुष्य-जीवन में अच्छाइयाँ भी हैं और बुराइयाँ भी। दोनों आपस में टकराती और लड़ती रहती हैं। एक क्षण के लिए भी दोनों का महायुद्ध कभी बन्द नहीं हुआ। कभी अच्छाइयाँ विजय प्राप्त करती दिखाई देती हैं तो दूसरे ही क्षण बुराइयाँ सिर उठाती नज़र आती हैं।

उक्त अन्तर्द्वन्द्व के सम्बन्ध में कुछ लोगों ने माना है कि चैतन्य आत्मा मूलतः बुरा ही है। वह कभी अच्छा हो ही नहीं सकता। अनन्त-अनन्त काल बीत जाने पर भी यह अच्छा नहीं बना और अनन्त-काल गुज़र जायेगा, तब भी वह अच्छा नहीं बनेगा। उसमें वासनाएँ बनी रहती हैं, फलस्वरूप जन्म-मरण का चक्र भी चलता ही रहता है।

इसी मान्यता के आधार पर एक दर्शन-शास्त्र का निर्माण भी हुआ और उसकी परम्परा आगे बढ़ी। इस दार्शनिक परम्परा ने आत्मा की पूर्ण पवित्रता और निर्मलता की भावना से एक तरह से साफ़ इन्क़ार कर दिया और मान लिया कि आत्मा को संसार में ही रहना है और वह संसार में ही रहेगी, क्योंकि उसके लिए संसार से ऊँची कोई भूमिका ही नहीं है।

और वासना? वह तो अन्दर की अग्नि है। कभी तीव्र तो कभी मंद होती रहती है। कभी तेज़ हो जाती है तो तेज़ दिखाई देती है और कभी मंद हो जाती है तो मंद दिखाई देती है। परन्तु मूलतः उसका नाश कभी नहीं होता।

इस प्रकार के दर्शन की जो मान्यता है, उसने मनुष्य के उच्च

आदर्श की चमक को मलिन कर दिया। मनुष्य, जो अपने जीवन को श्रेष्ठ बनाने की दौड़ में था और जीवन की ऊँचाइयों को छूने का प्रयत्न कर रहा था, इस भावना ने एक तरह से उसके मन को मार दिया और उसे हताश और निराश कर दिया।

इस दर्शन ने मनुष्य के सामने निराशा का अभेद्य अंधकार फैलाकर निष्क्रियता का मार्ग रक्खा। इस दर्शन का अर्थ है कि हम हथियार डाल दें। क्रोध आता है और प्रयत्न किया जाता है कि उसे समाप्त कर दिया जाय, किन्तु फिर भी क्रोध आ जाता है, तो क्या उस क्रोध के आगे हथियार डाल दें। समझ लें कि यह जाने वाला नहीं है? न इस जन्म में और न अगले जन्म में ही।

इसका अर्थ यही हुआ कि कुछ करने-धरने की ज़रूरत ही नहीं है। तो इस तरह तो जितनी भी बुराइयाँ हैं वे सब हमको घेर कर खड़ी हो जाती हैं। इन्सान का कर्त्तव्य है कि उनसे लड़े, मगर यह दर्शन कहता है कि कितना ही लड़ो, जीत नहीं होगी!

कोई डाक्टर बीमार के पास आकर कह दे कि इलाज तो करता हूँ, किन्तु बीमारी जाने वाली नहीं है। इससे कदापि मुक्ति नहीं हो सकती। बीमार को घुल-घुल कर मरना है!

तो जो डॉक्टर या वैद्य ऐसा कहता है, उससे मरीज़ का क्या होना-जाना है। अगर वह चिकित्सा भी कर रहा है तो

उसका मूल्य क्या है ?

तो जिस दर्शन ने इस प्रकार की निराशा जीवन में पैदा कर दी है उससे आत्मा का क्या लाभ हो सकता है ?

इस दर्शन के विरुद्ध, दूसरा दर्शन कहता है कि आत्मा में बुराई है ही नहीं, सब अच्छाइयाँ ही हैं, और प्रत्येक आत्मा अनन्त-अनन्त काल से परमब्रह्म रूप ही है। आत्मा में जो विकार और वासनाएँ आपको मालूम होती हैं, वे आत्मा में नहीं हैं। वे तो तुम्हारी बुद्धि में, कल्पना में हैं। यह तो एक प्रकार का स्वप्न है, भ्रम है और इसके सिवाय और कुछ नहीं है।

इस दर्शन की मान्यता के अनुसार भी, विकारों से लड़ने की जो चेतना पैदा होनी चाहिए, वह नहीं होती।

कल्पना कीजिए, एक आदमी बीमार पड़ा है। व्यथा से कराह रहा है और उसकी हालत खराब है। उसे वैद्य कहे कि तू तो बीमार ही नहीं है; तो क्या उसके कहने से बीमारी चली जायगी ? एक आदमी के पैर में शीशा चुभ गया। वह किसी के यहाँ गया और जिसके यहाँ गया वह कहता है कि शीशा चुभा ही नहीं है तो ऐसा कहने भर से तो काम नहीं चलेगा।

इस प्रकार यह दो दर्शन दो किनारों पर खड़े हैं और जीवन की महत्त्वपूर्ण साधना के लिए कोई प्रेरणा नहीं देते, बल्कि साधना की प्रवृत्ति का मार्ग अवरुद्ध करते हैं।

किन्तु जैनदर्शन इस सम्बन्ध में एक महत्त्वपूर्ण विचार प्रस्तुत

करता है। वह हमें बतलाता है कि अपेक्षा-विशेष से आत्मा बुरा भी है और अच्छा भी है। आत्मा की यह बुराइयाँ और अच्छाइयाँ अनादि काल से चली आ रही हैं। कब से चली आ रही हैं, यह प्रश्न ही छोड़ देना है। और आत्मा की जो बुराइयाँ हैं, उनसे लड़ा जा सकता है, उन्हें दूर किया जा सकता है और आत्मा को निर्मल बनाया जा सकता है। अपेक्षा यही है कि साधना का मार्ग सही हो।

एक वस्त्र मैला हो गया है, गंदा हो गया है। उसके विषय में जो आदमी यह दृष्टिकोण रख लेता है कि यह तो मैला है और मैला ही रहने वाला है। यह कभी निर्मल होने वाला नहीं। तो वह उसे धोने का उपक्रम क्यों करेगा? हज़ार प्रयत्न करने पर भी जो वस्त्र साफ़ हो ही नहीं सकता, उसे धोने से लाभ ही क्या है?

और जो लोग यह कहते हैं कि—अजी, वस्त्र मैला है ही नहीं। यह तो तुम्हारी आँखों का भ्रम है कि तुम उसे मैला देखते हो! वस्त्र तो साफ़ है और कभी मलिन हो ही नहीं सकता! तब भी कौन उसे धोएगा?

वस्त्र धोने की क्रिया तो तभी हो सकती है, जब आप उसकी मलिनता पर विश्वास रक्खें और साथ ही उसके साफ़ होने में भी विश्वास रक्खें!

कहा जा सकता है कि वस्त्र यदि मैला है तो निर्मल कैसे हो सकता है? इस प्रश्न का उत्तर यही है कि मैल, मैल की जगह है और वस्त्र, वस्त्र की जगह है। मैल को दूर करने की क्रिया करने

से मैल हट जायगा और वस्त्र साफ़ हो जायगा। इस प्रकार वस्त्र को मैला समझकर धोएँगे तो वह साफ हो सकेगा। वस्त्र को जो मैला ही नहीं समझेगा अथवा जो उसकी निर्मलता की संभावना पर विश्वास नहीं करेगा, वह धोने की क्रिया भी नहीं करेगा और उस हालत में वस्त्र साफ़ भी नहीं होगा।

जैनधर्म आत्मा की अशुद्धता पर भी विश्वास करता है और शुद्ध होने की संभावना पर भी विश्वास करता है। वह अशुद्धता और शुद्धता के कारणों का भी बड़ा सुन्दर विश्लेषण करता है। हमारे अनेक सहयोगी धर्म भी उसका साथ देते हैं। इसका मतलब यह है कि आत्मा मलिनता की स्थिति में है, और स्वीकार करना ही चाहिए कि विकार उसमें रह रहे हैं, किन्तु वे विकार उसका स्वभाव नहीं हैं, जिससे कि आत्मा विकार-स्वभाव-मय हो जाय। स्वभाव कभी छूटता नहीं है। जिस वस्तु का जो स्वभाव है, वह कदापि उससे जुदा नहीं हो सकता। स्वभाव ही तो वह वस्तु है और यदि स्वभाव चला गया तो वस्तु के नाम पर रह क्या जायगा ? तो विकार आत्मा में रहते हुए भी आत्मा के स्वभाव नहीं बन पाते।

वस्त्र की मलिनता और निर्मलता के सम्बन्ध में ही विचार कर देखें। परस्पर विरुद्ध दो स्वभाव एक वस्तु में नहीं हो सकते। ऐसा हो तो उस वस्तु को एक नहीं कहा जायगा। दो स्वभावों के कारण वह वस्तु भी दो माननी पड़ेंगी। पानी स्वभाव से ठंडा है तो स्वभाव से गरम नहीं हो सकता। आग स्वभाव से

गरम है तो स्वभाव से ठंडी नहीं हो सकती। आशय यह है कि एक वस्तु के परस्पर विरोधी दो स्वभाव नहीं हो सकते हैं। अतएव आत्मा स्वभाव से या तो विकारमय-मलिन ही हो सकता है या निर्मल-निर्विकार ही हो सकता है।

मगर, जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, आत्मा में दोनों चीजें हैं—मलिनता भी और निर्मलता भी! तब अपने आप यह बात समझ में आ जानी चाहिए कि वह दोनों आत्मा के स्वभाव नहीं हैं। दोनों उसमें विद्यमान हैं अवश्य, मगर दोनों उसमें स्वाभाविक नहीं। एक चीज़ स्वभाव है और दूसरी चीज़ विभाव है, आगन्तुक है, औपाधिक है। और दोनों में जो विभाव रूप है, वही हट सकती है। स्वभाव नहीं हट सकता।

तो आत्मा का स्वभाव क्या है? और विभाव क्या है? यह समझने के लिए वस्त्र की मलिनता और निर्मलता पर विचार कर लीजिए। वस्त्र में मलिनता बाहर से आई है, निर्मलता बाहर से नहीं आई। निर्मलता तो उसका सहज भाव है, स्वभाव है। तो जिस प्रकार निर्मलता वस्त्र का स्वभाव है और मलिनता उसका विभाव है, औपाधिक भाव है, उसी प्रकार निर्मलता आत्मा का स्वभाव है और विकार तथा वासनाएँ विभाव हैं।

जो धर्म, वस्तु में किसी कारण से आ गया है, किन्तु जो उसका अपना रूप नहीं है, वही विभाव कहलाता है। और स्वभाव वह कहलाता है, जो वस्तु का मूल और असली रूप

हो, जो किसी निमित्त कारण से उत्पन्न न हुआ हो।

जैनधर्म ने माना है कि क्रोध, मान, माया और लोभ अथवा जो भी विकार आत्मा में मालूम हो रहे हैं, यह तुम्हारे स्वभाव या निजरूप नहीं हैं। यह विकार तुम्हारे अन्दर रह रहे हैं, इतने मात्र से तुम वहम में मत पड़ो। वे कितने ही गहरे घुसे हों, फिर भी तुम्हारा अपना रूप नहीं हैं। तुम, तुम हो, विकार, विकार हैं।

जैनधर्म ने इस रूप में भेदविज्ञान की देशना की है। भेदविज्ञान के विषय में हमारे यहाँ कहा गया है—

भेदविज्ञानतः सिद्धा, सिद्धा ये किल केचन।

—आचार्य अमृतचन्द्र

अनादि काल से आज तक जितनी भी आत्माओं ने मुक्ति प्राप्त की है, और जो आगे प्राप्त करेंगी, वे तुम्हारे इस कोरे क्रिया-काण्ड से नहीं की है और न करेंगी। यह तो निमित्त-मात्र है। मुक्ति तो भेदविज्ञान द्वारा ही प्राप्त होती है। जड़ और चेतन को अलग-अलग समझने से ही मोक्ष प्राप्त होता है।

जड़ और चेतन को अलग-अलग समझना एक महत्त्वपूर्ण दृष्टिकोण है। इस दृष्टिकोण से जब आत्मा देखती और साधना करती है, तभी जीवन में रस आता है। वह रस क्या है? आत्मा भेदविज्ञान की ज्योति को आगे-आगे अधिकाधिक प्रकाशित करती जाती है और एक दिन उस स्वरूप में पहुँच जाती है कि दोनों में सचमुच ही भेद हो जाता है। जड़ से आत्मा सम्पूर्ण रूप से

पृथक् हो जाती है और अपने असली स्वभाव में आ जाती है। इस प्रकार पहले भेदविज्ञान होता है और फिर भेद हो जाता है।

इस प्रकार पहली चीज़ है भेदविज्ञान पा लेना। सर्वप्रथम यह समझ लेना है कि जड़ और चेतन एक नहीं हैं। दोनों को अलग-अलग समझना है, अलग-अलग करने का प्रयत्न करना है! ऐसा करने से एक दिन जब चौदहवें गुणस्थान की स्थिति भी पार हो जाती है तो भेद हो जाता है। जड़, जड़ की जगह और चेतन, चेतन की जगह पहुँच जाता है। जो गुण-धर्म आत्मा के अपने हैं, वही मात्र आत्मा में शेष रह जाते हैं।

यह जैनधर्म का आध्यात्मिक सन्देश है। उसने मनुष्य को उच्च जीवन के लिए वल दिया है, प्रेरणा दी है।

अभिप्राय यह है कि स्वभाव को विभाव और विभाव को स्वभाव नहीं समझ लेना चाहिए। आज तक यही भूल होती आई है कि स्वभाव को विभाव और विभाव को स्वभाव समझ लिया गया है। दो दर्शन दोनों किनारों पर खड़े हो गये हैं और उनमें से एक कहता है कि चाहे जितनी शुद्धि करो, आत्मा तो शुद्ध होने वाला है नहीं!

मैं दिल्ली में था। वहाँ गांधी मैदान में एक वड़े दार्शनिक व्याख्यान कर रहे थे। उन्होंने कहा, पतन होना मनुष्य का स्वभाव है। गिर जाना, भ्रष्ट होना, विषयों की ओर जाना और वासनाओं की ओर जाना आत्मा का स्वभाव है! और फिर

उन्होंने विकारों और वासनाओं से अपने आपको सँभाल कर रखने के लिए भी कहा !

जहाँ तक उपदेश का प्रश्न है, कोई आपत्ति नहीं, मगर जब एक दार्शनिक इस प्रकार की भाषा का प्रयोग करता है, तो उसकी भाषा मूलतः ग़लत भाषा होजाती है। पहले तो यह कहना कि पतन होना स्वभाव है, और फिर यह भी कहना कि उसे दूर करने का प्रयत्न करना चाहिए; कैसे समझ में आ सकता है ? किसी आदमी से यह कहना कि क्रोध करना आत्मा का स्वभाव है और क्रोध से कोई मुक्त हो ही नहीं सकता; और फिर दूसरी सांस में उसे क्रोध न करने का उपदेश देना, क्या ग़लत चीज़ नहीं है ?

दीपक की ज्योति का स्वभाव प्रकाश देना है किन्तु उससे इच्छा की जाए कि वह प्रकाश न करे तो क्या यह कभी संभव हो सकता है ? स्वभाव कभी अलग नहीं हो सकता।

आज विभाव को स्वभाव मानकर चलने की आदत हो गई है। एक दर्शन ने इस मान्यता का समर्थन कर दिया है—अतएव लोग अपनी अनन्त क्षमता के प्रति शंकाशील हो रहे हैं और उस ओर से उदासीन होते जा रहे हैं। इस प्रकार दृष्टिकोण के मूल में ही भूल पैदा हो गई है। जब तक इस भूल को दुरुस्त न कर लिया जाय, जीवन के क्षेत्र में प्रगति का मार्ग अवरुद्ध ही हुआ समझना चाहिये।

तो जैनधर्म का यह सिद्धान्त है कि अनन्त-अनन्त काल बीत जाने पर भी विभाव, विभाव ही रहेगा; वह स्वभाव नहीं हो

सकता। और जो स्वभाव है, वह कदापि विभाव नहीं बनेगा।

जैनधर्म इस विराट संसार को दो इकाइयों में विभाजित करता है। वह जड़ और चेतन, ऐसी दो सत्ताओं को स्वीकार करता है और कहता है कि अनन्त-अनन्त जड़ हैं और अनन्त-अनन्त चेतन हैं। जड़ के संसर्ग से चेतन में और चेतन के संसर्ग से जड़ में विभाव परिणति उत्पन्न हुई है।

चार्वाक लोग सारे संसार को एक इकाई के रूप में मान रहे हैं और कहते हैं कि सारा संसार जड़ है और चैतन्य भी जड़ का ही विकार है। जड़ से भिन्न आत्मा का कोई अस्तित्व नहीं है। इस प्रकार उन्होंने सारे संसार को जड़ का रूप दे दिया है।

दूसरी तरफ़ हमारे यहाँ वेदान्ती हैं, जो बड़े ऊँचे विचारक कहे जाते हैं, वे भी एक सिरे पर खड़े हैं और वहीं से संसार की समस्या हल कर रहे हैं। उनका कहना है कि यह समग्र विश्व, जो आपके सामने है; जड़ नहीं, चेतन है और चेतन के सिवाय और कुछ भी नहीं है। जो जड़ दिखाई देता है, वह भी चेतन ही है। उसे जड़ समझना वास्तव में तुम्हारे मन की भूल है।

उन्होंने कहा—अंधेरे में तुम्हारे सामने रस्सी पड़ी है। तुम्हारी उस पर नज़र पड़ी और मन में अचानक ख़याल आया—सांप है! और तुम भयभीत हो गये और लाठी लेने दौड़े। मतलब यह है कि असली सांप को देखकर जो चेतनाएँ और भावनाएँ हुआ करती हैं, भय पैदा होता है और मनुष्य मारने को तैयार होता है, वही सब आप उस समय करते हैं। किन्तु जब प्रकाश

उन्होंने विकारों और वासनाओं से अपने आपको सँभाल कर रखने के लिए भी कहा !

जहाँ तक उपदेश का प्रश्न है, कोई आपत्ति नहीं, मगर जब एक दार्शनिक इस प्रकार की भाषा का प्रयोग करता है, तो उसकी भाषा मूलतः ग़लत भाषा होजाती है। पहले तो यह कहना कि पतन होना स्वभाव है, और फिर यह भी कहना कि उसे दूर करने का प्रयत्न करना चाहिए; कैसे समझ में आ सकता है ? किसी आदमी से यह कहना कि क्रोध करना आत्मा का स्वभाव है और क्रोध से कोई मुक्त हो ही नहीं सकता; और फिर दूसरी सांस में उसे क्रोध न करने का उपदेश देना, क्या ग़लत चीज़ नहीं है ?

दीपक की ज्योति का स्वभाव प्रकाश देना है किन्तु उससे इच्छा की जाए कि वह प्रकाश न करे तो क्या यह कभी संभव हो सकता है ? स्वभाव कभी अलग नहीं हो सकता।

आज विभाव को स्वभाव मानकर चलने की आदत हो गई है। एक दर्शन ने इस मान्यता का समर्थन कर दिया है—अतएव लोग अपनी अनन्त क्षमता के प्रति शंकाशील हो रहे हैं और उस ओर से उदासीन होते जा रहे हैं। इस प्रकार दृष्टिकोण के मूल में ही भूल पैदा हो गई है। जब तक इस भूल को दुरुस्त न कर लिया जाय, जीवन के क्षेत्र में प्रगति का मार्ग अवरुद्ध ही हुआ समझना चाहिये।

तो जैनधर्म का यह सिद्धान्त है कि अनन्त-अनन्त काल बीत जाने पर भी विभाव, विभाव ही रहेगा; वह स्वभाव नहीं हो

सकता। और जो स्वभाव है, वह कदापि विभाव नहीं बनेगा।

जैनधर्म इस विराट संसार को दो इकाइयों में विभाजित करता है। वह जड़ और चेतन, ऐसी दो सत्ताओं को स्वीकार करता है और कहता है कि अनन्त-अनन्त जड़ हैं और अनन्त-अनन्त चेतन हैं। जड़ के संसर्ग से चेतन में और चेतन के संसर्ग से जड़ में विभाव परिणति उत्पन्न हुई है।

चार्वाक लोग सारे संसार को एक इकाई के रूप में मान रहे हैं और कहते हैं कि सारा संसार जड़ है और चैतन्य भी जड़ का ही विकार है। जड़ से भिन्न आत्मा का कोई अस्तित्व नहीं है। इस प्रकार उन्होंने सारे संसार को जड़ का रूप दे दिया है।

दूसरी तरफ़ हमारे यहाँ वेदान्ती हैं, जो बड़े ऊँचे विचारक कहे जाते हैं, वे भी एक सिरे पर खड़े हैं और वहीं से संसार की समस्या हल कर रहे हैं। उनका कहना है कि यह समग्र विश्व, जो आपके सामने है, जड़ नहीं, चेतन है और चेतन के सिवाय और कुछ भी नहीं है। जो जड़ दिखाई देता है, वह भी चेतन ही है। उसे जड़ समझना वास्तव में तुम्हारे मन की भूल है।

उन्होंने कहा—अंधेरे में तुम्हारे सामने रस्सी पड़ी है। तुम्हारी उस पर नज़र पड़ी और मन में अचानक ख़याल आया—सांप है! और तुम भयभीत हो गये और लाठी लेने दौड़े। मतलब यह है कि असली सांप को देखकर जो चेतनाएँ और भावनाएँ हुआ करती हैं, भय पैदा होता है और मनुष्य मारने को तैयार होता है, वही सब आप उस समय करते हैं। किन्तु जब प्रकाश

लेकर देखते हैं तो सांप नहीं, रस्सी निकलती है। बस, उसी समय आपकी वे सब भावनाएँ बदल जाती हैं और आप कहते हैं—अरे यह तो रस्सी थी, यह साँप कब था ?

तो सांप पहले भी नहीं था और बाद में भी नहीं था। और भला! वह बीच में भी क्या था ? वह तो एक अध्रुव स्फुरणा थी, मात्र भ्रान्ति थी, जो मन में ही जागृत हुई और मन में ही समा गई।

वेदान्त के विद्वान् यही उदाहरण सारे संसार पर लागू करते हैं। उनका आशय यह है कि सारे ब्रह्माण्ड में नदी, पहाड़, वृक्ष, मकान और दूकान के रूप में और चेतन के रूप में जो प्रसार है, वह परमब्रह्म चैतन्य का ही है। चैतन्य से पृथक् न कोई भूमि या पहाड़ है, न महल और मकान है और न कोई जीवधारी है। चैतन्य के अतिरिक्त दूसरी कोई सत्ता ही नहीं है। जैसे रस्सी को सांप समझ लिया जाता है, उसी प्रकार चैतन्य को लोग नाना रूपों में समझ रहे हैं। जिस समय रस्सी को सांप समझा जाता है, उस समय यह नहीं मालूम होता कि वास्तव में यह सांप नहीं है और हमें भ्रम हो रहा है। उस समय तो वह वास्तविक सांप ही मालूम होता है। भ्रम का पता तो प्रकाश में देखने पर ही चलता है। इसी प्रकार जब दिव्य आत्मिक प्रकाश आत्मा को प्राप्त होता है, उस समय आत्मा समझती है कि यह सारा पसारा भ्रम के सिवाय और कुछ भी नहीं है! उस समय आत्मा ज्योति रूप बन जाती है और ब्रह्ममय हो जाती है।

तात्पर्य यह है कि एक ओर चार्वाक भी अद्वैतवादी है, किन्तु वह जड़ाद्वैतवादी है। और दूसरी ओर वेदान्त भी अद्वैतवादी है किन्तु वह चैतन्याद्वैतवादी है। और जैनधर्म द्वैतवादी है। इसका अर्थ यह हुआ कि वह सारे संसार को एक इकाई न मानकर दो इकाइयों के रूप में स्वीकार करता है। जैनधर्म के अनुसार जड़ और चेतन स्वभावतः पृथक दो पदार्थ हैं और दोनों की अपनी-अपनी सत्ता है। यह नहीं कि एक ही तत्त्व दो रूप में हो गया हो!

बस, यहीं से साधना का रूप प्रारम्भ होता है। साधना का उद्देश्य है कि जड़ को अलग और चेतन को अलग कर लिया जाय।

पहले कहा जा चुका है कि जड़ की भाँति ही चेतन भी अनन्त हैं। उन सब का अपना-अपना स्वतन्त्र और मौलिक अस्तित्व है। फिर भी सब चेतन स्वभाव से समान हैं।

अब प्रश्न होता है कि चेतन अनन्त हैं और समान स्वभाव वाले हैं तो सब एक रूप में क्यों नहीं हैं? कोई अत्यन्त क्रोधी है तो कोई क्षमावान् है। कोई अत्यन्त नम्र है, इतना नम्र कि अभिमान को पास भी नहीं फटकने देता, तो दूसरा अभिमान के कारण धरती पर पैर ही नहीं धरता! यह सब भिन्नताएँ क्यों दिखाई देती हैं? अगर आत्मा का रूप एक सरीखा है, तो सब का रूप एक-सा क्यों नहीं है?

इस प्रश्न का उत्तर यह है कि आत्माओं में जो भिन्नता दिखाई

देती है, उसका कारण विभावपरिणति है। अपने मूल और शुद्ध स्वभाव के रूप में सब आत्माओं में समानता है; मगर जड़ के संसर्ग के कारण उनके स्वभाव में जो विकार उत्पन्न हो जाता है, वह विकार नाना प्रकार का है।

ठाणांगसूत्र में कहा है—

एगे आया।

अर्थात् आत्मा एक है।

यह कथन संख्या की दृष्टि से नहीं, स्वभाव की दृष्टि से है। अर्थात् जगत् की जो अनन्त-अनन्त आत्माएँ हैं, वे सब गुण, कर्म और स्वभाव की दृष्टि से चैतन्य-स्वरूप हैं, अनन्त शक्तिमय हैं और अपने आप में निर्मल हैं।

फिर भी आत्मा में जो विकार मालूम दे रहे हैं, वे बाहर के हैं, जड़ के संसर्ग से उत्पन्न हुए हैं—कर्म या माया ने उन्हें उत्पन्न किया है। जिस आत्मा में जितने ही ज्यादा विकार हैं, वह उतनी ही ज्यादा दूषित है। और जिसमें जितने कम विकार हैं, वह उतनी ही पवित्र आत्मा है।

एक वस्त्र पूर्ण रूप से स्वच्छ है और एक पूर्ण रूप से गंदा है और एक कुछ गंदा और कुछ साफ़ है! तो यह बीच की अवस्था कहाँ से आई?

इस अवस्थाभेद का कारण मैल की न्यूनाधिकता है। जहाँ मैल का पूरी तरह अभाव है वहाँ पूरी निर्मलता है और जहाँ मैल जितना ज्यादा है, वहां उतनी ही अधिक मलिनता है।

इसी प्रकार जो आत्मा क्षमा, नम्रता और सरलता के मार्ग पर है और अपनी वासनाओं और विकारों पर विजय प्राप्त करती हुई दिखाई देती है, और अपना जीवन सहज भाव की ओर ले जा रही है, समझना चाहिए कि उसमें विभाव का अंश कम है और स्वभाव का अंश ज़्यादा है। जितने-जितने अंश में विभाव कम होता जाता है और मलिनता कम होती जाती है उतने-उतने अंशों में आत्मा की पवित्रता धीरे-धीरे व्यक्त होती जा रही है। वह स्वभाव की ओर आती जा रही है।

इस प्रकार जब जैनधर्म ने कहा तो पता लगा कि जड़, जड़ है और चेतन, चेतन है। मैं चेतन हूँ, जड़ नहीं हूँ, मैं विकार-वासना भी नहीं हूँ, क्रोध, मान माया लोभ भी नहीं हूँ, नारक तिर्यञ्च मनुष्य और देवता भी नहीं हूँ, चौरासी लाख जीवयोनियों में भी नहीं हूँ। मुझमें जो विकार मालूम होते हैं, ये सब पुद्गलजनित हैं। पानी में मिट्टी आ गई है तो कीचड़ का रूप दिखलाई दे रहा है।

जब यह दृष्टि जागी तो उतने ही अंशों में आत्मा अपने स्वरूप में आ गई। यह दृष्टिकोण यदि एक बार भी जाग जाय, यदि एक बार भी जड़ और चेतन को अलग-अलग समझ लें तो फिर आत्मा कितनी ही क्यों न अधोदिशा में चली जाय, एक दिन वह अवश्य ही ऊपर उठेगी, कर्मों के बन्धन को काट कर अपने असली शुद्ध स्वरूप में आ जायगी। अपने शुद्ध स्वरूप में आजाना, जड़ से सर्वथा पृथक हो जाना ही मोक्ष होना

कहलाता है। फिर तो देर होना सम्भव है, मगर अंधेर होना सम्भव नहीं। अंधेर या अंधकार तभी तक सम्भव है, जब तक भेदविज्ञान नहीं होता।

इस रूप में भगवान् महावीर ने संसार भर की आत्माओं को एक बहुत महत्त्वपूर्ण सन्देश दिया। जिन्हें यह सन्देश मिला, जिन्होंने इस पर विश्वास किया, उन्होंने अपनी सद्भावनाओं को जगाने का प्रयत्न किया और फिर ज्ञान की ज्योति जगा दी। ज्ञान की वह ज्योति कभी बुझती भी दिखाई दी, तो भी वे निराश नहीं हुए। भगवान ने कहा है कि तुम्हारा काम ज्योति जगाना है। ज्योति जगाने के बाद भी कभी अंधकार दिखाई दे तो निराश मत होओ। वह अंधकार अब टिक नहीं सकता। एक बार भेदविज्ञान की ज्योति का स्पर्श होते ही वह इतना कच्चा पड़ गया है कि उसे नष्ट होना ही पड़ेगा! वह नष्ट हो कर ही रहेगा।

भगवान् महावीर के पास हज़ारों जिज्ञासु और साधक आते थे। उनमें से कुछ ऐसे होते कि भगवान् का प्रवचन जब तक सुनते, तब तक तो आनन्द में झूमते रहते और जब घर पहुँचते तो फिर ज्यों के त्यों हो जाते, फिर उसी संसार के चक्र में फंस जाते।

इस पर प्रश्न उठा—वे आत्माएँ प्रवचन सुन कर गद्‌गद् हो जाती हैं, उनकी भावनाएँ जाग उठती हैं और मन में उल्लास पैदा हो जाता है, किन्तु ज्यों ही घर में पैर रक्खा कि ज्ञान की

वह ज्योति बुझ गई और भावना की वह लहर मिट गई, तो ऐसे श्रवण से क्या लाभ ?

भगवान् ने कहा--'इसमें भी बड़ा लाभ है। उनको आज तक प्रकाश की किरण नहीं मिली थी और अनन्त-अनन्त जीवन धारण करके भी उन्हें पता नहीं चला था कि जड़ क्या है और चेतन क्या है ? अगर एक बार भी किसी के अन्तःकरण में यह बुद्धि जाग उठी और उसने अपने चिदानन्द के दर्शन कर लिए तो मेरा काम पूरा हो गया ! वह भूलेगा और भटकेगा, किन्तु कहाँ तक भूला भटका रहेगा ? आख़िर तो अपनी राह पर आएगा ही !'

एक बार भगवान् महावीर अपने शिष्यों के साथ मगध से सिंध की यात्रा पर जा रहे थे। राजा उदायी के महान् आग्रह पर सिन्ध की ओर उनका बिहार हुआ। जब वे राजस्थान के मैदान से गुज़रे तो भयानक गर्मी के दिन थे। वर्णन आता है कि कई साधक तो रास्ते में ही आहार-पानी के अभाव में देह-त्याग कर गये। वे अहिंसा के महान् आदर्श पर चले जा रहे थे अतः जो भी रास्ते में मिलते, उन्हें अहिंसा का सन्देश देते और फिर उस बीहड़ भूमि की ओर बढ़ जाते। भूख-प्यास से शरीर गिरने को है, किन्तु आत्मा फिर भी नहीं गिर रही है ! उस मरुभूमि की कठिन राह पर शान्त भाव से चलते चले जा रहे हैं !

कुछ सन्त आगे चले गये और कुछ पीछे रह गये। इस तरह सन्त कई टोलियों में बँट गये।

भगवान् महावीर और गौतम स्वामी साथ-साथ थे। गौतम, भगवान् के पक्के 'अन्तेवासी' थे, अतः छाया की तरह भगवान् का अनुगमन कर रहे थे। पल भर भी भगवान् से अलग होना उन्हें पसन्द नहीं था।

तेज़ गर्मी पड़ रही थी। सूर्य उत्तप्त हो उठा था और ज़मीन जल रही थी। फिर भी सन्तों की टोलियाँ धीर और मन्द गति से, ईर्यासमिति का ध्यान रखते हुए, चली जा रही थीं। चित्त में खिन्नता नहीं, मन में व्याकुलता नहीं, चेहरे पर परेशानी नहीं, ललाट पर सिकुड़न नहीं, और सन्तगण आगे बढ़ते जा रहे थे।

गाँव दूर है और मार्ग में ऐसे वृक्ष भी नहीं कि जिनकी छाया में बैठकर क्षण भर स्वयं को विश्रान्ति दें।

तभी, दीख पड़ा, कि एक वृद्ध किसान अपने बूढ़े और निर्बल बैलों को लिए ज़मीन जोत रहा है।

भगवान् ने किसान की वास्तविक स्थिति का आकलन कराते हुये गौतम से कहा—'यह किसान किस ख़राब स्थिति में अपना जीवन चला रहा है? तुम इसे बोध दे सकते हो, दो!'

गौतम ने कहा—'भंते! जो आज्ञा।'

आज का कोई साधु होता तो कह देता—यह भी कोई बोध देने का समय है? आसमान से आग बरस रही है और ज़मीन आग उगल रही है। आहार पानी का पता नहीं और आपको बोध देने की सूझी है! अभी हमारे सामने तो एक ही समस्या है कि कैसे

गाँव में पहुँचेंगे, कहाँ से लाएँगे और कैसे खाएँगे-पीएँगे।

मगर गौतम जैसे आज्ञाकारी शिष्य ऐसी भाषा बोलने के लिए नहीं थे। वे उसी समय उस किसान के पास पहुँचे। उन्होंने पूछा—"तुम्हारा क्या नाम है? तुम्हारी यह क्या स्थिति है?"

किसान ने कहा—"तुम अपना काम करो और मुझे अपना काम करने दो।"

गौतम अवाक् थोड़ी देर खड़े रहे। बूढ़ा किसान ज़मीन जोत कर चलने लगा तो गौतम भी, नंगे पाँव उस जलती रेत में चलने लगे। उसके पीछे-पीछे क़दम बढ़ाये गये!

गौतम विचारमग्न थे। आख़िर उन्होंने कहा—"अरे भाई, मेरी एक बात तो सुन लो।"

किसान बोला—"कहो, क्या बात है?"

गौतम—"घर में तुम कितने आदमी हो?"

किसान—"मैं अकेला राम हूँ और कोई नहीं है।"

गौतम—"और मकान?"

किसान—"एक फूस का छप्पर है। जब वह ख़राब हो जाता है तो जंगल से घास पात ले जाकर फिर ठीक कर लेता हूँ।"

गौतम—"तुम इतने दिनों में भी सुखी नहीं हो सके, तो इस ढलती उम्र में ही क्या सुखी हो सकोगे?"

किसान—"मेरे भाग्य में सुख है ही नहीं! बहुत-सी ज़िंदगी बीत गई। थोड़ी और बाक़ी है, उसे भी यों ही बिता दूँगा।"

गौतम—"क्या दो रोटियों के लिए अपनी शेष अनमोल

ज़िन्दगी यूँ ही समाप्त कर दोगे? अगले जन्म के लिए भी कुछ करोगे या नहीं? न करोगे तो पीछे पछताओगे।"

गौतम जैसे महान् त्यागी का उपदेश कारगर हुआ। किसान के हृदय में गौतम के प्रति श्रद्धा जाग उठी। उत्कंठा के साथ उसने पूछा—"भगवन्! क्या मेरे भाग्य में भी कहीं सुख लिखा है? मैं तो अब बूढ़ा हो चुका हूँ। ज़िन्दगी किनारे लग गई है। अब इस जन्म में मुझे तारने वाला कौन है? आप ही कहिए, मुझे क्या करना चाहिए?"

गौतम—"सुख की बात तो यह है, भद्र, कि प्रत्येक आत्मा में अनन्त आनन्द का सागर हिलोरें ले रहा है। भाग्य में क्या लिखा है, इसकी क्या बात करते हो? आत्मा के कण-कण में अक्षय आनन्द का ख़ज़ाना भरा पड़ा है। उसे समझने भर की देर है। और रही बात तारने वाले की, तो जो मुझे तारने वाला है, वही तुम्हें भी तारने वाला है और वही समग्र जगत् को तारने वाला है। मैंने जिन प्रभु का आश्रय लिया है, उन्हीं प्रभु के चरणों में चल कर तुम भी आत्मसमर्पण कर दो। भगवान् के उदार संघ में सबको समान स्थान प्राप्त है। वहाँ बालक और वृद्ध, राजा और रंक, ऊँचे और नीचे, सब एक-सा स्थान पाते हैं। भगवान् की गोद में सभी साधक आश्रय पा सकते हैं। वह गोद क्रान्ति की महान् स्थली है। वहाँ जात-पाँत आदि की विभिन्न मर्यादाएँ नहीं हैं, किसी क़िस्म की दीवारें नहीं हैं।"

बूढ़े किसान के मन में गौतम की बात बैठ गई। उसने उसी

समय गौतम से दीक्षा ले ली। गौतम, भगवान् की ओर चले और उनका नवदीक्षित शिष्य भी उनके पीछे-पीछे हो लिया।

गौतम ने जाते ही प्रभु को वन्दन किया। किसान ने, जो साधु बन चुका था, भगवान् को देखा—उनकी परिषद् देखी, स्त्री और पुरुषों की एक बड़ी भीड़ देखी, तो वह भड़क गया। कहने लगा—"यह तो ढोंग है। मैं समझता था कि यह निःस्पृह और त्यागी होंगे। मगर यहाँ का तो रंग ढंग ही निराला है।"

ऐसा कह कर बूढ़े ने साधु का वेष वहीं फेंक दिया और चल दिया।

सभी लोग उसकी यह चर्या देखकर चकित रह गये। गौतम ने प्रभु से पूछा—"भगवन्! यह क्या बात है? मेरे साथ आया, तब तक तो उसके मन में कोई बात नहीं थी। वह मुझे श्रद्धा की दृष्टि से देखने लगा था। यकायक उसके हृदय में यह हलचल क्यों उत्पन्न हुई? आपको देखते ही क्यों भाग खड़ा हुआ?"

भगवान् ने कहा—"आयुष्मन्! इस घटना के पीछे एक लम्बा इतिहास है। सुनो—जब मैं त्रिपृष्ठ वासुदेव के भव में था, तब यह किसान सिंह के रूप में था। मैं सिंह को मारने जा रहा था, तब तुम मेरे सारथी थे। मैंने सिंह का वध किया अतः वह जब मरा तो मेरे प्रति घृणा का भाव लेकर मरा। मगर तुम्हारे प्रति उसके हृदय में प्रेम के अंकुर पैदा हो गये थे। तुमने उसके मरण की घड़ी में उसे मीठे वचनों से समझाया था—'अरे सिंहराज! तुम वनराज हो और यह नरराज है। तुम पछतावा मत करो।

तुम किसी साधारण आदमी के हाथ से नहीं मारे गये हो।'

तदनन्तर जन्म-मरण की लंबी परम्परा के बाद अब मैं महावीर के रूप में हूं, तुम मेरे शिष्य गौतम के रूप में हो और यह तीसरा साथी सिंह, किसान के रूप में जन्मा है। तुम्हारी मधुर वाणी का इसी कारण उस पर असर हो गया कि तुमने उसे उस जन्म में भी प्रतिबोध दिया था। उसी प्रेम के कारण किसान मिलते ही तुम्हारे साथ हो गया। मगर मेरे साथ उसका पिछले जन्म का वैर था। वह आज उदय में आ गया। मुझे देखते ही उसके हृदय में दबे हुए घृणा के संस्कार जाग उठे और वह संयम के साधन छोड़कर भाग गया।"

भगवान् ने फिर कहा—"अभी बेचारा कर्मों के चक्कर में है। अभी उसे कर्म भोगने हैं। उसका कोई दोष नहीं है। वह तो कर्मों का नचाया नाच रहा है। उस पर हमें किसी प्रकार का द्वेष नहीं करना है, घृणा नहीं करनी है। परन्तु गौतम खिन्न होने की कोई बात नहीं है—तुम्हारा कार्य पूरा हो चुका है। तुम्हारे द्वारा उसके अन्तर में सत्य-दृष्टि का, सम्यग्-दर्शन का बीजारोपण हो चुका है। वह एक दिन अवश्य अंकुरित होगा और उसकी मुक्ति का कारण बनेगा।"

\+ \+ \+ \+

इस प्रकार जीवन में न जाने कब-कब के संस्कार दबे पड़े रहते हैं। न मालूम कितने-कितने पूर्व जन्मों की विभावनाएँ छिपी रहती हैं! जो ज़रा-सा निमित्त मिलने पर ही भड़क उठती हैं, सुलग जाती हैं! यह सब विभाव-परिणतियाँ हैं।

हिंसा, झूठ, चोरी और अब्रह्मचर्य—सब विभाव हैं, विकार हैं। इन विभावों को नष्ट करना है तो अपने असली स्वरूप को, आत्मा की स्वाभाविक परिणति को पकड़ना चाहिए। विभाव से स्वभाव में आना कर्मोदय का फल नहीं, स्वभाव से विभाव की ओर जाना कर्मोदय का फल है। यह कर्मोदय का फल है और साथ ही कर्मबन्ध का कारण भी है।

स्वभाव मुक्ति है, विभाव बन्धन है। मिथ्यात्व आदि विभाव हैं, अतएव बन्धन हैं, जब कि सम्यक्त्व आदि स्वभाव हैं—कर्म और उसके फल से छूटना है।

इस प्रकार सही दृष्टिकोण पाकर और अपनी भावनाओं का सम्यक् रूप से विश्लेषण करके जीवन में स्वभाव की ओर बढ़ने की कोशिश करनी चाहिए और विभाव को छोड़ते चलने का प्रयास करना चाहिए। ज्यों-ज्यों आत्मा विभाव से दूर होता जायगा, त्यों-त्यों अपने असली स्वरूप के निकटतर होता जायगा, यही साधना का मूल मंत्र है। इसमें ही जीवन की सफलता और कृतार्थता है। स्वभाव में पूरी तरह स्थिर हो जाना ही जीवन की चरम सिद्धि है।

इस जीवन में हमें शत्रुओं से लड़ना है और उन्हें पछाड़ना है। परन्तु अपने असली शत्रुओं को पहचान लेना चाहिए। हमारे असली शत्रु हमारे विकार ही हैं, विभाव ही हैं। हमें इन्हें दुर्बल और क्षीण करना है और 'स्व' का बल बढ़ाना है। गीताकार भी यही कहते हैं—

श्रेयान् स्वधर्मो विगुणः ।

\+ \+ \+

स्वधर्मे निधनं श्रेयः । परधर्मो भयावहः ॥

स्वधर्म-स्वगुण अर्थात् आत्मा का निज-रूप ही श्रेयस्कर है और परधर्म अर्थात् वैभाविक परिणति भयंकर है। स्वधर्म में ही मृत्यु प्राप्त करना कल्याण-कर है। परधर्म मनुष्य को दुर्गति और दुरवस्था में ले जाता है।

आज जिस व्रत के वर्णन का उपक्रम किया है, वह ब्रह्मचर्य व्रत स्वधर्म है—आत्मा का स्वभाव है। ब्रह्म में अर्थात् आत्मा में, विचरना अर्थात् रमण करना ही सच्चा ब्रह्मचर्य है। इस प्रकार के ब्रह्मचर्य को जिसने धारण कर लिया होगा, वह कभी विभाव में पड़ने वाला नहीं। संसार की वैभाविक प्रवृत्तियाँ उसे निःस्वाद और निःसार जान पड़ेंगी। उसे अक्षय शान्ति, अखण्ड सन्तोष और अनन्त आनन्द प्राप्त होगा।

ब्यावर
४-११-५०

अन्तर्द्वन्द्व

कल मैंने बतलाया था कि मनुष्य के जीवन में अच्छाइयाँ भी हैं और बुराइयाँ भी हैं। मनुष्य का अनन्त-अनन्त काल से जो चिरजीवन का प्रवाह चला आ रहा है, उसमें कोई स्थिति ऐसी नहीं थी कि वहाँ अच्छाइयाँ क़तई न हों। अच्छाइयाँ हर हालत में रही हैं, पर साथ ही बुराइयाँ भी आती रही हैं।

सच पूछो तो यही जीवन का द्वन्द्व है, यही संघर्ष है और यही लड़ाई है। हम अपने जीवन में यही लड़ाई लड़ते रहे हैं और अब भी लड़ रहे हैं। इस प्रकार मनुष्य का जीवन एक तरह से कुरुक्षेत्र बना हुआ है। गीता में एक प्रश्न उठाया गया है—

धर्मक्षेत्रे कुरुक्षेत्रे, समवेता युयुत्सवः।
मामकाः पाण्डवाश्चैव, किमकुर्वत संजय ॥

अर्थात्-धर्मक्षेत्र-कुरुक्षेत्र में लड़ने के अभिलाषी जो कौरव और पाण्डव आये, तो हे संजय ! उन्होंने क्या किया ?

यह धृतराष्ट्र का प्रश्न है और इसी प्रश्न के आधार पर सारी गीता खड़ी हो गई। यह प्रश्न कुरुक्षेत्र के मैदान के विषय में किया गया है। पर वह तो इतिहास की एक घटना थी, जो हुई और हो चुकी। किन्तु सब से बड़ी युद्ध की भूमि, लड़ाई का मैदान तो यह जीवन क्षेत्र है। इसमें भी कौरव और पाण्डव लड़ रहे हैं!

कौरव और पाण्डव तो भूमि के कुछ टुकड़े के लिए लड़े थे। वह जो भी भली या बुरी घटना थी, उसी युग में समाप्त भी हो गई। पर हमारे जीवन का महाभारत तो अनादि काल से चलता रहा है और चल रहा है। उसमें हमारा हृदय कुरुक्षेत्र है और उसमें जो अच्छी और बुरी वृत्तियाँ हैं, वे कौरव और पाण्डव हैं। उनका जो द्वन्द्व या संघर्ष चल रहा है, वह महाभारत है। पाण्डव अच्छी वृत्तियों के प्रतीक हैं, तो कौरव बुरी वृत्तियों के हैं।

जब तक कोई मनुष्य इस लड़ाई को नहीं जीत लेता और अच्छी वृत्तियाँ बुरी वृत्तियों पर विजय नहीं प्राप्त कर लेतीं और अपने मन पर पूरा अंकुश नहीं पा लिया जाता, तब तक हमारा जीवन एक सिरे पर नहीं पहुँच सकता।

जितने भी विचारक, दार्शनिक और चिन्तनशील आते हैं, वे बाह्य जगत् के सम्बन्ध में भी कहा करते हैं, मगर सबसे अधिक अन्तर्जगत् के विषय में कहते हैं।

यत् पिण्डे तद् ब्रह्माण्डे।

अर्थात् जो पिण्ड में हो रहा है, वही ब्रह्माण्ड में हो रहा है। जो व्यष्टि में है वही समष्टि में है।

बाह्य संसार में जो काम हो रहे हैं, वहाँ सर्वत्र तुम्हारे अन्तर जीवन की छाया ही काम कर रही है। शत्रु और मित्र, जो तुमने बाहर खड़े कर रक्खे हैं, वे तुम्हारी अन्दर की वृत्तियों ने ही खड़े किये हैं। बाहर जो प्रतिबिम्ब है, वह अन्दर से ही आता है। अन्तर में मैत्रीभाव जागृत होता है तो सम्पूर्ण विश्व मित्र के ही रूप में नज़र आता है। और जब अन्तर में द्वेष, शत्रुता और घृणा के भाव चलते हैं तो सारा संसार हमें शत्रु के रूप में खड़ा नज़र आता है। यही कारण है कि जब हमारे बड़े-बड़े विचारक आये, चिन्तनशील साधु और सद्गृहस्थ आये और जब उन्होंने विश्व का प्रतिनिधित्व किया तो जीवन से यही मंत्र फूँका—

मित्रस्याहं चक्षुषा सर्वाणि भूतानि समीक्षे।

हम संसार को मित्र एवं दोस्त की आँखों से देखते हैं—प्राणी मात्र को अपना मित्र मानते हैं।

जब ऐसी दृष्टि पैदा हो गई तो उन्हें संसार में कोई शत्रु नज़र नहीं आया। और तो क्या, विरोधी भी मित्र के रूप में ही नज़र आये। जो तलवार लेकर मारने दौड़े, वे भी प्रेम और स्नेह की मूर्ति के रूप में दिखाई दिये। कोई भी ज़िन्दगी आग बरसाती हुई नज़र नहीं आई। उन्होंने समस्त ज़िंदगियों को प्रेम और अमृत बरसाते हुए ही देखा।

इसके विपरीत, जिनके हृदय में घृणा और द्वेष की आग

को ज्वालाएँ धधक रही थीं, वे जब आगे बढ़े तो उन्हें अपने चारों ओर शत्रु ही शत्रु दिखलाई दिये। और तो क्या, जो उनका कल्याण करने के लिए आये, वे भी उन्हें विरोधी के रूप में ही नज़र आये। यही कारण है कि रावण की नज़रों में राम शत्रु के रूप में रहे और यही कारण है कि गोशाला को भगवान् महावीर की अमृतवाणी भी विष-भरी जान पड़ी। किन्तु भगवान् महावीर के हृदय में गोशाला के प्रति वही दया थी जो गौतम के लिए थी। यह नहीं था कि गौतम के लिए भगवान् महावीर के हृदय में कोई दूसरी चीज़ हो और अपने प्रतिद्वन्द्वी गोशाला आदि के प्रति वे कोई और भाव रखते हों। भगवान् का दोनों के प्रति एक-सा भाव था।

मगर गोशाला को भगवान् और ही रूप में नज़र आये और उधर गौतम को कुछ और ही। अतएव हम समझते हैं कि बाहर में जो गुत्थियाँ हैं, वे सब हमारे मन में रहती हैं। अतः जैसा हमारा जीवन होता है, वैसा ही संसार हमको नज़र आने लगता है।

पुराने दर्शनों की जो विभिन्न परम्पराएँ हैं, उनमें एक दृष्टि-सृष्टिवाद की भी परम्परा है। उसकी मूल भित्ति है—

यादृशी दृष्टिस्तादृशी सृष्टिः।

जैसी दृष्टि होती है, अर्थात् जिस मनुष्य का जैसा दृष्टिकोण बन जाता है, उसके लिए वैसी ही सृष्टि हो जाती है।

अभिप्राय यह है कि कोई पूछे कि सृष्टि भली है या बुरी? तो इसके लिए उसी से पूछ लो कि तुम्हारी दृष्टि अच्छी है या

बुरी ? अगर दृष्टि अच्छी है तो सृष्टि भी अच्छी नजर आएगी और दृष्टि बुरी है तो सृष्टि भी बुरी नज़र आएगी।

तो मनुष्य जो बाहर में संघर्ष कर रहा है उसका मूल अन्दर में है। वह अन्तर्वृत्तियों के कारण ही लड़ रहा है। इस सम्बन्ध में पुराने विचारकों ने एक रूपक की योजना की है।

काँच के एक महल में, जहाँ ऊपर, नीचे और इधर-उधर कांच ही काँच जड़ा था, एक कुत्ता पहुँच गया। वह अकेला ही था, उसका कोई संगी-साथी नहीं था। वहाँ उसे रोटी का एक टुकड़ा पड़ा मिला। ज्यों ही वह उसे लेने के लिए झपटा, क्या देखता है कि सैकड़ों कुत्ते उस टुकड़े के लिए झपट रहे हैं। कुत्ता वहाँ अकेला ही था, परन्तु उसी के अपने सैकड़ों प्रतिबिम्ब सैकड़ों कुत्तों के रूप में उसे नज़र आ रहे थे। वह उनसे संघर्ष करता है, लड़ता है और जब मुँह फाड़ता है और दाँत चमकाता है, तो उसके प्रतिद्वन्द्वी सैकड़ों कुत्ते भी वैसा ही करते हैं। वह कांच की दीवारों से टकरा-टकरा कर लोहूलुहान हो जाता है! टुकड़ा वहीं पड़ा है। उसे कोई उठाने वाला नहीं है, परन्तु उसकी मानसिक भूमिका में से सैकड़ों कुत्ते पैदा हो गये और उनसे लड़-लड़ कर उसने अपनी ही दुर्गति कर डाली।

हमारे विचारकों ने कहा है कि ठीक यही वृत्ति मनुष्य की हो रही है। उसे जीवन में बाहर के जो शत्रु और मित्र दिखाई देते हैं और उनसे वह संघर्ष करता हुआ नज़र आता है, किन्तु वास्तव में वह संघर्ष बाहर का नहीं है। वह तो अन्दर की वृत्ति में

है। किन्तु मनुष्य अपनी वृत्तियों को ठीक तौर से न समझने के कारण बाहर में संघर्ष करता दिखाई देता है और अपनी दुर्गति कर लेता है।

तो संसार की समस्या को हल करना चाहते हो तो अन्दर की समस्या को हल करो। यदि तुमने अन्दर के दृष्टिकोण को साफ़ कर लिया है तो जो तुम चाहोगे, वही हो जायगा।

एक पुराना कथानक है। एक छोटा-सा गाँव था। और उसका एक मुखिया था, जिसने सबकी सेवा की, हर जगह अपना समय, जीवन और पुरुषार्थ लगाया। उसने गाँव के हर बूढ़े, नौजवान, बच्चे और बहिन के कल्याण के लिए अपना जीवन व्यतीत कर दिया। जब जीवन में बुढ़ापा आया तो घर का मोह त्याग कर, गाँव का जो पंचायती स्थान था, वहाँ आसन जमा लिया और सोचा कि जीवन की इन आख़िरी घड़ियों में भी गाँव की अधिक से अधिक सेवा कर जाऊं। गांव के बच्चे आते तो उन्हें ऐसी शिक्षा देता कि उनके मन के मैल को धोकर साफ़ करता। नौजवान आते तो उनसे भी समाजोन्नति की बातें करता, उनकी गुत्थियों को सुलझाने की कोशिश करता और उनके निकट सम्पर्क में रहकर उनके विकारों को दूर करने का प्रयत्न करता। और जो बूढ़े आते, जीवन से सर्वथा हताश और निराश, तो उनमें भी नव-जीवन की ज्योति फैलाता। बहिनें आतीं और उनसे भी जब शिक्षा की बातें करता तो उनके जीवन में भी एक ज्योति सी जग जाती।

सच्चे भाव से सेवा करने वाले को प्रसिद्धि और प्रतिष्ठा प्राप्त होती ही है। उस बूढ़े मुखिया को इतनी प्रसिद्धि हो गई और उस पर गाँव के लोगों की ऐसी श्रद्धा जम गई कि जैसा वह कहता, सारा गांव वही करता। जैसा वह आचरण करता, सारा गाँव उसी का अनुसरण करता।

बूढ़े के प्रयत्नों से गाँव की अनेकता में एकता के भाव आने लगे। गाँव में जन-वर्ग अनेक थे किन्तु उसने प्रयत्न कर उन अनेकों को एकरस और एकरूप बना डाला। कुछ ही दिनों के बाद वे अनेक एक हो गये।

और नेता की परिभाषा भी यही है। जो विभिन्नता को एक रूप दे सके, जो अलग-अलग राहों पर भटकने वालों को एक राह पर ला सके तथा जिसकी आंखों का इशारा होते ही जनता उसी तरफ चलने लगे, वही नेता कहलाता है।

ऋग्वेद में एक पुरुषसूक्त है, जिसमें नेता की महिमा का वर्णन किया गया है। ऋग्वेद के भाष्यकार सायण ने तो दूसरे रूप में उसका अर्थ किया है, किन्तु हम उससे मिलता-जुलता अर्थ लेते हैं। वहाँ प्रसंग आता है।

सहस्रशीर्षा पुरुषः, सहस्राक्षः सहस्रपात्।
स भूमिं सर्वतः स्पृष्ट्वाऽत्यतिष्ठद् दशाङ्गुलम्॥

वह पुरुष महापुरुष है, ईश्वर है, जिसके हज़ार सिर हैं, हज़ार नेत्र हैं और हज़ार पैर हैं। और वह सारे भूमण्डल को छूकर भी उससे दस अंगुल बाहर है।

वहाँ यह ईश्वर के लिए कहा गया है, पर हम विचार करेंगे तो मालूम होगा कि नेता के विषय में भी यह कथन सत्य के समीप ही है।

नेता वही होता है जिसके हज़ार सिर होते हैं। अर्थात् जो वह सोचे तो हज़ारों सिर भी वही सोचने लगें और वही हरक़त हरेक के मन में खड़खड़ाने लगे। तो इस रूप में जो विचारों का एकीकरण कर सकता है, वही सच्चा नेता है।

इसी प्रकार नेता जिस दृष्टिकोण से देखे, हज़ारों उसी दृष्टिकोण से देखने लगें, उसे जो दिखाई दे, हज़ारों को वही दिखाई दे, हज़ारों उसके दृष्टिकोण को अपनाने लगें, तो समझना चाहिए कि उसमें नेतृत्व आने लगा है।

मनुष्य के शरीर में पैर तो दो ही होते हैं, किन्तु जिस राह पर नेता चलता है, हज़ारों क़दम उसी पर चलने को तैयार हो जाते हैं, इस प्रकार जो हज़ार पैर वाला है, वही वास्तव में नेता है।

ऐसा नेता सारे भूमण्डल को छू जाता है। जो गांव का नेता है, वह सारे गांव को छूता है, जो समाज का नेता है वह सारे समाज को छू सकता है और यदि कोई राष्ट्र का नेता बना है तो समग्र राष्ट्र को छू सकता है अर्थात् गाँव आदि की समग्र जनता उसके संकेत पर चलती है। मगर वह उससे दश अंगुल अलग रहता है। वह समाज में काम करता है, जनता की सेवा करता है, जनता के जीवन में घुलमिल जाता है, जनता का एकीकरण करता है, फिर भी वह उसके वैभव से दस अंगुल दूर रहता

है। यहां पर दस अंगुल दूर रहने का अर्थ है—पाँच कर्मेन्द्रियों और पाँच ज्ञानेन्द्रियों के सुख अथवा संसार के वैभव से दूर रहना।

देश का नेता देश का निर्माण करता है, समाज का नेता समाज का निर्माण करता है, नगर का नेता नगर का और ग्राम का नेता ग्राम का निर्माण करता है। और इस तरह वह संसार का युगानुरूप नव-निर्माण करता है।

किन्तु वह यदि अपने जीवन को ऊँचा न रख सका और संसार की दलदल में फंस गया तो निर्माण कार्य नहीं हो सकता।

तो मैं उस बूढ़े की बात कह रहा हूँ। वह गाँव के जीवन में घुलमिल गया था। वह गाँव को उस पगडंडो पर ले आया था कि उसका देखना गाँव का देखना और उसका सोचना गाँव का सोचना माना जाता था।

एक समय की बात है। संध्या का समय था और शीतल पवन चल रही थी। वह बूढ़ा समीप में बैठे बहुत से नवयुवकों से ज्ञान-चर्चा कर रहा था। जब बैठे-बैठे ज्ञान-चर्चा करते हुए बहुत देर हो गई तो बीच ही में वह बोल उठा —"यों बैठे रहने से शरीर ठीक नहीं रहता है। चलो, बाहर घूम आएँ। अब बाहर मैदान में यही चर्चा चलेगी।"

सब चल पड़े। चल कर गाँव के बाहर आये तो थोड़ी दूर पर, एक सुहावनी जगह बैठकर बातें करने लगे। कुछ देर बाद उधर से एक पथिक निकला, बहुत ही थका हुआ था, वह!

वह बूढ़े के पास आया और पूछने लगा—"क्यों बूढ़े, यह आगे जो गाँव नज़र आ रहा है, कैसा है ?

आने वाले ने न तो अभिवादन किया और न नमस्कार ही ! वह ऐसे ही खड़ा हो गया। उसके बोलने में शिष्टता नहीं थी, स्वर में मधुरता नहीं थी। लट्ठ की तरह आकर वह खड़ा हो गया और प्रश्न करने लगा।

तो, जब उसने पूछा—'गाँव कैसा है ? मैं मुसाफ़िर हूँ और यहाँ ठहरना चाहता हूँ ?' तब बूढ़े ने उत्तर दिया—गाँव कैसा है ? वह ईंट, पत्थर और लकड़ी वग़ैरह का बना है।

तब मुसाफ़िर ने कहा—यह तो दिखाई दे रहा है, किन्तु वहाँ के रहने वाले कैसे हैं ?

बूढ़ा—अच्छा, यह प्रश्न है तुम्हारा ! तो हम भी पूछते हैं—तुम यह बताओ कि जिस गाँव से तुम आ रहे हो, वह कैसा है ?

मुसाफ़िर—मेरे गाँव के बारे में क्यों पूछते हो ? वह तो पापियों और राक्षसों का गाँव है। मेरे गाँव में एक भी धर्मात्मा नहीं। वहाँ के लोगों ने मुझे बर्बाद कर दिया। उनकी आँखों से मेरे लिए आग बरस रही थी और उनकी वाणी से मेरे प्रति घृणा और द्वेष टपक रहा था। उन्होंने अपनी जान में मुझको ज़िन्दा नहीं रहने दिया और मैं जान बचा कर भागा हूँ। मैं तो सोचता हूँ कि गांव में भूकंप आए, बिजली गिरे और सारा

गाँव ध्वस्त हो जाए ! मैं तो यही प्रार्थना और कामना करता हूँ कि जब मैं वहाँ फिर कभी लौटूँ तो गाँव उजड़ा हुआ मिले-सुनसान मिले।

तब उस बूढ़े मुखिया ने कहा—भैया, सावधान रहना। हमारा गाँव उससे भी बुरा है। वहाँ से तो तुम ज़िन्दगी लेकर यहाँ तक आ भी गये, किन्तु इस गाँव में गये तो नहीं कह सकता कि ज़िन्दा बचोगे भी या नहीं ? क्या करोगे इस गाँव में जाकर। मैं भी मुश्किल से ज़िन्दगी गुज़ार रहा हूँ ! मेरी मानो तो गाँव में मत जाना। नहीं तो तुम्हारा जीवन सुरक्षित नहीं रहेगा।

बूढ़े की बात सुनकर मुसाफ़िर आगे चला गया। गाँव के लड़के, जो यह सब बातें सुन रहे थे, सोचने लगे—इनके तो बड़े बुरे विचार हैं गाँव के प्रति ! यह तो भयंकर विद्रोही जान पड़ते हैं ! हम तो इनके इशारे पर नाच रहे हैं और समझते हैं कि इनके द्वारा हमारे गाँव में मंगल ही मंगल है और यह अज्ञात आगन्तुक यात्री से कह रहे हैं कि यहाँ से ज़िन्दगी लेकर नहीं लौटोगे ! यह तो राक्षसों का गाँव है, यहाँ एक भी भला आदमी नहीं है। कैसी विचित्र स्थिति है बाबा की ?

लड़कों के मन में इस प्रकार के भाव उत्पन्न हुए, किन्तु बूढ़े से यह बात पूछलें, उनमें से किसी को भी यह साहस न हो सका। और वही ज्ञान-चर्चा बराबर होती रही।

कुछ देर हुई थी कि एक दूसरा मुसाफ़िर आया ! वह नमस्कार करके एक ओर खड़ा हो गया। जब तक बात चलती रही वह

बीच में नहीं बोला। चुपचाप खड़ा रहा। आख़िर बुड्ढे ने उससे पूछा—कहो भाई, क्या बात है ?

उसने भी वही कहा—मैं थका-मांदा आया हूँ और मालूम करना चाहता हूँ कि यह गाँव कैसा है ? गाँव की क्या स्थिति है ?

बुड्ढा बोला—भाई, गाँव तो जैसा होता है वैसा ही है।

मुसाफ़िर—यह तो मैं भी देख रहा हूँ, किन्तु यहाँ के रहने वालों का आचरण कैसा है ? यहाँ मुझे सहायता मिल सकेगी या नहीं ?

बूढ़े ने फिर उसी तरह उसके गाँव के बारे में उससे पूछा कि वह कैसा है ?

मुसाफिर ने कहा—मेरे गाँव के लिए क्या पूछते हो ? मेरा गांव तो स्वर्ग है। वहाँ मैंने अभी तक के दिन बड़े आनन्द में बिताये हैं; किन्तु दुर्भाग्य मेरा पीछा नहीं छोड़ रहा था। यद्यपि मेरे साथियों ने मेरे जीवन में रस लेने की बहुत कोशिश की, मेरे कई साथियों ने तो मेरे लिए कष्ट भी उठाया, किन्तु मेरे भाग्य ने साथ नहीं दिया। तब मैंने सोचा—यहाँ से चलूँ और दूसरी जगह अपना भाग्य आजमाऊँ। सम्भव है, वहाँ दो रोटियां मिल जाएँ और कोई धंधा लग जाय। मेरा मन तो अब भी मेरे गाँव में है, शरीर से ही मैं यहां आया हूँ। अपने अच्छे दिन आने पर मैं फिर अपने गाँव को ही लौट जाऊँगा।

मुसाफ़िर की बात ध्यान से सुनने के बाद बूढ़े ने कहा—जैसा तुम्हारा गाँव है, उससे कहीं अच्छा हमारा गाँव है। चलो,

हमारे गाँव में रहना। हम पीछे-पीछे आ रहे हैं। अब हम तुम्हें जाने नहीं देंगे। तुम्हारी रोटी का प्रश्न हल न करे, वह गाँव ही कैसा ? वही गांव आदर्श गांव है जहां कोई कितना ही क्यों न रोता हुआ आए किन्तु जब जाए तो हँसता हुआ जाए। हमारे गाँव की यही महिमा है।

बुड्ढे की भलमनसाहत देखकर और उसके आग्रह से आश्वस्त हो कर मुसाफिर गांव की ओर चला गया !

लड़कों के दिमाग़ में थोड़ी देर पहले की और अब की बातें गूँज रही थीं। कुतूहल के कारण उनका हृदय चंचल हो रहा था। लड़के सोच रहे थे–पहले तो गांव को ऐसा बतला रहे थे और अब ऐसा बतलाने लगे ! अब कहते हैं–गांव क्या है, स्वर्ग है। और यहां रोते-रोते आने वाले भी हँसते-हंसते विदा होते हैं ! समझ में नहीं आता, ऐसी परस्पर विरोधी बातें क्यों कहते हैं ?

आखिर साहस करके एक लड़के ने पूछ ही लिया–बाबा, पहले तो आपने गाँव की बहुत बुराई की थी और अब उसी को स्वर्गभूमि बता दिया ! यह क्या बात है ? इसमें क्या रहस्य है ?

तब बुड्ढा बोला–तुम समझते नहीं। पहला आदमी आग की चिनगारी था और जलती हुई भेड़ था। वह भेड़ जहाँ भी जायगी, सब जगह आग लगाएगी !, सोचो तो सही— जो अपनी जन्मभूमि में कई पीढ़ियों से रहता आया है और

स्वयं ज़िन्दगी के ३०-४० वर्ष गुज़ार चुका है, फिर भी एक भी स्नेही और मित्र नहीं बना सका, और कहता है कि सारे के सारे शत्रु हैं, कुचलने के लिए हैं, बस किसी तरह प्राण बचाकर आया हूँ। जो इतने जीवन में एक भी प्रेमी नहीं जुटा सका, एक भी संगी-साथी नहीं बना सका, वह यहाँ रह कर घृणा और द्वेष फैलाने के सिवाय और क्या करता ? वह जितनी देर यहां रहता, बुरे संस्कार डाल कर जाता। अतएव यों कह कर मैंने तुम्हारे गाँव की रक्षा की है। वह इस गांव में न रहे, इसी में गांव की भलाई है। वह आग, जो बाहर से जलती हुई आई है, बाहर ही चली जाय ! ऐसे आदमी को तुम अपने घर में रखना पसंद करोगे ?

सब लड़के कहने लगे—नहीं, हम तो नहीं रक्खेंगे।

बूढ़े ने सन्तोष के साथ कहा—तो तुम मुझ पर क्यों सन्देह कर रहे थे ? जब तुम अपने घर में उसे पसन्द नहीं करते तो गाँव में कैसे पसन्द कर सकते हो। क्या सारा गाँव तुम्हारा घर नहीं है ? आशय यह है कि उस आदमी का गाँव में रहना वाञ्छनीय नहीं था।

एक लड़के ने पूछा—तो फिर दूसरे आदमी को रहने के लिए क्यों कहा ?

बूढ़ा—जो इन्सान है और इन्सानों के बीच रहता है, उसको किसी न किसी रूप में इन्सान ही बर्बाद करने वाले भी होते हैं। किन्तु वह कितना भला आदमी है कि अपने शत्रुओं को याद नहीं कर रहा है,

विरोधियों को याद नहीं कर रहा है और अपने गाँव की ज़रा भी बुराई नहीं कर रहा है। आखिरकार वह गाँव से तंग आकर ही भागा है, किन्तु जीवन में कितनी मिठास है उसके ? वह जहाँ-कहीं जायगा, गाँव के गौरव को चार चाँद लगाता जायगा। ऐसे भले आदमी का गांव में रहना अच्छा है। और जब उससे किसी को हानि नहीं पहुँचती तो उसकी सहायता करना और उसे आश्रय देना हमारा मानवीय कर्त्तव्य हो जाता है।

तो हमारी कहानी समाप्त हो गई, किन्तु जीवन की कहानी कहाँ समाप्त होती है ?

आप भला तो जग भला !

आप भले हैं तो सारा संसार आपके लिए भला है। आप भले नहीं हैं और आपके हृदय में घृणा तथा द्वेष की ज्वालाएँ जल रही हैं, तो आप संसार के एक किनारे से दूसरे किनारे तक कहीं भी जायँ, आपको कहीं भी अच्छाई या भलाई नहीं मिलेगी। मिलेगी, तो भी आप उसे घृणा की दृष्टि से ही देखेंगे।

मतलब यह है कि पहिले अन्दर के जीवन को स्वच्छ करने का प्रयत्न किया जाना चाहिए। जिसने अपनी अन्तरात्मा को स्वच्छ, अतएव मित्र बना लिया, उसने सारे संसार को अपना मित्र बना लिया। और जो अपनी अन्तरात्मा को विकारों और वासनाओं की तीव्रता के कारण मलिन बनाता है, वह स्वयं अपना शत्रु बन जाता है और फिर सारा संसार उसे शत्रु के रूप में दिखाई देने लगता है। उत्तराध्ययन शास्त्र में बड़े ही

सुन्दर ढंग से इस विषय का निरूपण किया गया है। कहा है—

अप्पा नई वेयरणी, अप्पा मे कूडसामली।
अप्पा कामदुहा धेणू, अप्पा मे नंदणं वणं॥

× × × ×

अप्पा कत्ता विकत्ता य, दुहाण य सुहाण य।
अप्पा मित्तममित्तं च, दुप्पट्ठियं सुपट्ठिओ॥

भगवान् कहते हैं—वैतरणी नदी और कूटशाल्मलि कोई अन्य नहीं, आत्मा ही है। आत्मा ही कामधेनु गाय है और नन्दन-वन भी आत्मा ही है।

अन्तरात्मा ही दुःखों और सुखों का कर्त्ता है और हर्त्ता है। अरे, तुम स्वयं ही अपने मित्र हो और स्वयं ही अपने शत्रु हो। जब तुम सही राह पर चलते हो तो स्वयं के मित्र बन जाते हो और जब सही राह छोड़ कर ग़लत राह पर चल पड़ते हो तो अपने दुश्मन बन जाते हो।

प्रश्न हो सकता है, वैतरणी नदी और कूटशाल्मलि, जो नरक-दुःख के प्रतीक हैं, और कामधेनु तथा नन्दनवन, जो स्वर्ग-सुख के प्रतीक हैं, वे आत्म-रूप कैसे हो सकते हैं? अगर आत्मा स्वयं अपना मित्र है तो शत्रु कैसे हो सकता है? और यदि शत्रु है तो मित्र कैसे हो सकता है?

तो इस प्रश्न का उत्तर यही है कि आत्मा में दुर्वृत्तियाँ भी हैं और सद्वृत्तियाँ भी हैं। जैसा कि अभी कहा जा चुका है, दोनों में निरन्तर युद्ध होता रहता है। हृदय-रूपी कुरुक्षेत्र और

धर्मक्षेत्र में जीवन की लड़ाई लड़ी जा रही है। उसमें एक तरफ़ अच्छी और दूसरी तरफ़ बुरी वृत्तियाँ हैं। एक तरफ़ बुरी वृत्तियों के कारण हज़ारों ज़िंदगियाँ बर्बाद हो चुकी हैं। और यदि आज भी हम उन वृत्तियों को नहीं जीत सकते तो हज़ारों—लाखों ज़िन्दगियाँ जैसे पहिले बर्बाद हुई हैं वैसे ही यह भी बर्बाद हो जायँगी।

इन्सान की ज़िन्दगी बहुत ऊँची ज़िन्दगी है और उस का शरीर बड़ा ही महत्त्वपूर्ण है। उसकी महिमा नहीं गाई जा सकती। देवताओं के शरीर से भी अधिक महिमामय है—मानव-शरीर! भगवान् ने साधकों को बार-बार 'देवाणुप्पिया' अर्थात् 'हे देवों के प्यारे' कह कर सम्बोधन किया है।

अपने जीवन-कल्याण के लिए जो भी बालक, बूढ़े या नौजवान भगवान् के सम्मुख आये, जो भी बहिनें सामने आईं, पापी से पापी और अधम से अधम मनुष्य आये, उन सब से भगवान् महावीर ने यही कहा कि तुम जीवन का कल्याण करो। तुम्हारा शरीर देवताओं के शरीर से भी धन्य है।

गायन्ति देवाः किल गीतकानि,
धन्यास्तु ते भारतभूमिभागे।

स्वर्ग में बैठे हुए देवता भी गाते हैं कि धन्य हैं वे लोग, जिन्होंने आर्यभूमि में जन्म लिया! हम न जाने कब इन्सान बनेंगे, कब हम अपने बन्धनों को तोड़ कर स्वतंत्र मुक्त हो सकेंगे।

इस रूप में भारत की आर्यभूमि को पौराणिक गाथाओं

में मानव-जीवन की महत्ता का नाद गूँज रहा है। हाँ, तो इस भूमि पर मनुष्य के रूप में अवतरित तो हो गए, मगर प्रश्न है—उसे सार्थक किस प्रकार किया जाए ?

एक दिन राम ने बच्चे के रूप में जन्म लिया और रावण ने भी बच्चे के रूप में जन्म लिया। जन्म से ही वे मर्यादा-पुरुषोत्तम राम नहीं बन गये थे और जन्म से रावण परनारी-हारी राक्षस नहीं बन गया था। किन्तु जब वे अपने जीवन की राह पर बढ़े तो एक राम और दूसरा रावण बन गया। एक की अच्छी वृत्तियों ने, बुरी वृत्तियों को पराजित करके उसे राम बना दिया और दूसरे की बुरी वृत्तियों ने अच्छी वृत्तियों पर विजय पाकर उसे रावण बना दिया !

अभिप्राय यह है कि भली और बुरी वृत्तियों के निरन्तर जारी रहने वाले संघर्ष में अगर भली वृत्तियों को विजय प्राप्त होती है तो जीवन भला बन जाता है और यदि बुरी वृत्तियां विजेता के रूप में अपना सिर उठा पाती हैं तो जीवन बर्बाद हो जाता है।

तो क्या यह समझ लिया जाय कि मनुष्य अपनी वृत्तियों का गुलाम है ? और उनके जय-पराजय पर ही उसकी क़िस्मत का फैसला होना है ?

नहीं, हमें स्मरण रखना चाहिए कि तमाम वृत्तियां, चाहे वह भली हैं या बुरी, मनुष्य की ही हैं। वह जहां उनसे निर्मित होता है, वहां उनका निर्माण भी करता है। उनका निर्माता

मनुष्य से भिन्न और कोई नहीं है। इसीलिए तो अभी कहा गया था—

अप्पा कत्ता विकत्ता य।

आत्मा ही कर्त्ता है और आत्मा ही भोक्ता है।

अपनी वृत्तियों को बनाना, एक पर दूसरी को विजयी बनाना, यह आत्मा का ही स्वाधिकार है। यदि ऐसा न होता तो मनुष्य के सारे प्रयास, मनुष्य की समस्त साधना निष्फल ही न हो जाती ?

इसीलिए तो आनन्द ने अपने जीवन में साधना का मार्ग तलाश किया। उसने भगवान् के चरणों में संकल्प किया कि आज से मुझे बुरे विचारों में, दुर्वृत्तियों में, नहीं रहना है, और जीवन की राह, जो अहिंसा और सत्य की है, वह तलाश करनी है। इस रूप में वह ब्रह्मचर्य की राह पर आया है।

जो आनन्द ने किया, वही आप कर सकते हैं, वही सब कर सकते हैं। यदि न कर सकते होते तो आनन्द का और दूसरे महान् साधकों का पुण्यचरित लिखा ही क्यों जाता ? उसे कोई क्यों पढ़ता और क्यों सुनता ?

हमारे जीवन में दो धाराएँ बहती हैं—एक मोह की, दूसरी प्रेम की। मोह में वासना, विकार और अब्रह्मचर्य है और दूसरे के लिए आकर्षण है। वह आकर्षण इतना प्रबल है कि वह दूसरे के साथ अपने जीवन को जोड़ देना चाहता है। वासना किसी न किसी के साथ सम्पर्क क़ायम करती है और

जीवन का साथी बनाती है।

और जहां प्रेम है, आकर्षण वहां भी होता है। मनुष्य अपने आप में अकेला है और अकेला पड़कर ही न रह जाय, इसलिए वह भी दूसरे से ताल्लुक जोड़ना चाहता है। वह भी स्नेह-सम्बन्ध क़ायम करना चाहता है।

इस प्रकार मोह और प्रेम में ऊपर दिखाई देने वाला आकर्षण एक-सा है। किन्तु दोनों के आकर्षण भिन्न-भिन्न प्रकार के हैं। उनकी भिन्नता को ठीक तरह समझने के लिए गाय के दूध और आक के दूध का उदाहरण उपयुक्त है। गाय का दूध भी दूध कहलाता है और आक का दूध भी दूध कहलाता है। दोनों दूध कहलाते है और दोनों सफ़ेद होते हैं। किन्तु दोनों में आकाश-पाताल जितना अन्तर है। एक में अमृत भरा है, और दूसरे में विष छलकता है। आक के दूध की एक एक बूंद ज़हर का काम करती है और गाय का दूध पीने के बाद शरीर के कण-कण में बल और शक्ति का संचार करता है।

इसी प्रकार प्रेम और मोह दोनों में आकर्षण है, पर दोनों के आकर्षण में अन्तर है। मोह का आकर्षण जब एक का दूसरे पर चलता है तो वह दोनों की जिन्दगी को वासना में डाल देता है। और जिस किसी के पास वह आकर्षण का प्रवाह जाता है तो विकार और वासना की लहरें लेकर जाता है। प्रेम का आकर्षण ऐसा नहीं होता। उसमें विकार नहीं होता। वासना भी नहीं होती।

सीता के प्रति एक ओर रावण के हृदय में आकर्षण है और दूसरी ओर लक्ष्मण के हृदय में भी आकर्षण है। किन्तु रावण का आकर्षण वासना के विष से भरा है और लक्ष्मण का आकर्षण मातृत्व की पवित्र भावना से ओत-प्रोत है। सीता की सेवा लक्ष्मण ने किस प्रकार की! उसके लिये वह प्राण देने को भी तैयार रहा और सुख-सुविधाओं को ठोकर लगाई! यह सब आकर्षण के बिना सम्भव नहीं था। परन्तु यह आकर्षण निःस्वार्थ भाव से था। उसमें वासना के लिए रंचमात्र भी अवकाश न था। सीता के प्रति लक्ष्मण की मातृबुद्धि थी। उसने अपने जीवन में सीता को माता की दृष्टि से देखा था।

रावण जब सीता का हरण कर आकाश-मार्ग से जा रहा था तो सीता अपने शरीर के अलंकार नीचे फेंकती गई थी, जिससे राम को पता लग जाय कि वह किस मार्ग से कहाँ ले जाई गई है। तो ज्यों ही राम की दृष्टि केयूर पर पड़ी, उन्होंने उठा लिया और कहा—यह आभूषण तो सीता का ही मालूम होता है। देखना लक्ष्मण, यह सीता का ही है न?

उस समय लक्ष्मण के अन्तर जीवन की उज्ज्वलता बाहर में भी चमक उठती है। लक्ष्मण का वह जीवन, भारतीय आदर्श का प्रतीक बनकर रह जाता है, वह भारतीयों का प्रतिनिधित्व करता है और भारत के शील और सौजन्य को चार चाँद लगा देता है। उस समय लक्ष्मण क्या बोले, मानो, भारत की अन्तरात्मा बोल उठी। लक्ष्मण ने कहा—

नाहं जानामि केयूरे, नाहं जानामि कुण्डले।
नूपुरे त्वभिजानामि, नित्यं पादाभिवन्दनात्॥
—वाल्मीकि-रामायण।

भैया! नहीं कह सकता कि यह केयूर सीता का है या नहीं। मैं यह भी नहीं जानता कि कौन-से कुण्डल सीता के हैं और कौन से नहीं! मैं तो सिर्फ उनके नूपुरों को पहचानता हूँ। जब मैं माता सीता के चरणों में नमस्कार करने के लिए जाता था, और पैर पड़ता था, तब उनके पैरों पर ही निगाह रहती थी। इस कारण पैरों में पहरे हुए नूपुरों को मैं पहचान सकता हूँ। मैंने उनके दूसरे गहने नहीं देखे हैं।

यह कोई साधारण बात नहीं है, बहुत बड़ी बात है। मनुष्य का जीवन कितनी ऊँचाई तक पहुँच सकता है? यह उक्ति इस बात का निर्देश करने वाली ऊंची मीनार है। आज के भारतवासी जिस रूप में रह रहे हैं और अपनी संस्कृति बिगाड़ रहे हैं, वासना के वातावरण में और बाहरी विषाक्त हवाओं में जीवन गुजार रहे हैं, उनके पास, लक्ष्मण की इस ऊँचाई को देखने और परखने के लिए उपयुक्त आंखें कहाँ हैं?

शायद तर्क आ जाय कि यह तो अलंकार है। ऐसा होना सम्भव नहीं है; किन्तु मैं समझता हूँ कि आप आज के गज़ से पूर्वजों को न नापें। आप राम, लक्ष्मण, महावीर और बुद्ध को अपने गज़ से नहीं नाप सकते, क्योंकि उनका जीवन इतना महान् है कि आपका गज़ उसके आगे बहुत छोटा पड़ता है। वे इस

क्षुद्र गज़ से नहीं नापे जा सकते।

तो लक्ष्मण की ज़िन्दगी भी ज़िन्दगी है! वे भी सीता से स्नेह रखते थे। उनके हृदय में भी सीता के प्रति आकर्षण था और इतना आकर्षण था कि सीता के लिए जितने राम नहीं रोये; उतने वे रोये।

यह आकर्षण है कि इसमें जीवन की ऊँचाई और मिठास मालूम होती है!

और दूसरी ओर रावण का भी सीता के प्रति आकर्षण था। पर, वह बुरे विचारों और वासना के कारण विष मालूम होता है।

इस तरह दोनों ही जीवन के एक ही केन्द्र में खड़े हुये, किन्तु लक्ष्मण देवता और रावण राक्षस के रूप में प्रसिद्ध हुआ।

मगर लक्ष्मण और रावण के जीवन के विषय में कोई अच्छा-बुरा फ़ैसला कर लेने से ही हमारा काम नहीं चल सकता है। हमें अपने निज के जीवन के बारे में भी निर्णय करना होगा। सोचना होगा और विश्लेषण करना होगा कि अन्दर में हम क्या हैं? भगवान् महावीर के ज्ञान का जो अलौकिक प्रकाश हमें उपलब्ध है, उसमें आप अपने आन्तरिक जीवन का परीक्षण कर सकते हैं।

उसी प्रकाश में आनन्द के जीवन को देखिए। वह ब्रह्मचर्य व्रत ले रहा है कि संसार में अपनी पत्नी के सिवाय, जितनी भी स्त्रियां हैं, उनके प्रति मैं माता और बहिन का पवित्र प्रेम स्थापित करता हूँ। संसार में जो करोड़ों नारियां है; वे सब मेरी माताएँ और बहिनें होंगी और मैं होऊँगा उनका निर्मल हृदय भाई।

जीवन में जब इतना ऊँचा आदर्श आता है तो अपने आप बुरी वृत्तियों के पैर उखड़ने लगते हैं। संसार की वासनाएँ अनादि काल से जीवन में घर किए हुए हैं, उनके कारण जीवन निरन्तर गिरता चला जा रहा है और इस रूप में गिरता जा रहा है कि सँभल नहीं रहा है, किन्तु सद्वृत्तियों के जागृत होने पर वही जीवन तनकर खड़ा हो जाता है! इस रूप में यदि एक भी ऊँचाई तनकर खड़ी हो जाती है और बुराइयों को ललकारती है; तो वह बुराइयाँ, आज नहीं तो कल, ज़रूर मैदान खाली करके भाग जाती हैं। ब्रह्मचर्य ऐसी ही एक ऊँचाई है।

आखिर हमारा वर्त्तमान जीवन क्या है? मैं आप से ही पूछता हूँ कि आप क्या हैं? भारतीय दर्शन का उत्तर है कि आज आप आत्मा भी हैं और शरीर भी हैं। हमारे वर्तमान जीवन के दो अंग हैं। न वह शुद्ध चेतन है, न केवल जड़! यह पिण्ड, जो हमारे सामने है, जड़ और चेतन-दोनों का सम्मिश्रण है।

मनुष्य को वर्तमान कलुषित जीवन का मैदान पार करना है और पवित्रता के अन्तिम सर्वातिशायी विन्दु पर पहुँचना है। तो आज की दृष्टि से न केवल आत्मा को और न केवल शरीर को ही लेकर हम आगे बढ़ सकते हैं। दोनों को मज़बूत बना कर ही हम अपना मार्ग तय कर सकते हैं। मगर दोनों को मजबूत बनाने का उपाय क्या है? मैं समझता हूँ कि वह उपाय ब्रह्मचर्य ही है, उसके अतिरिक्त और कुछ नहीं है।

ब्रह्मचर्य में अमित क्षमता है। उसकी क्षमता हमारे मन

को मजबूत बनाती है, हमारी अन्तरात्मा को शक्तिशाली बनाती है और हमारे तन को भी मजबूत करती है।

मनुष्य का तन, मन और अन्तरात्मा जब इस प्रकार सब कुछ मजबूत हो जाता है, तब उसमें ऐसी प्रचण्ड शक्ति का, ऐसे अपूर्व और देदीप्यमान तेज का और ऐसी क्षमता का आविर्भाव होता है, कि वह अपने जीवन में एकदम अप्रतिहत हो जाता है। बाहर की और भीतर की, कोई भी माया-शक्ति उसके मार्ग में रोड़ा बन खड़ी नहीं हो सकती।

ब्रह्मचर्य की आग, वह आग है, जिसमें तप कर आत्मा कुन्दन बन जाती है। उस आग में अनन्त-अनन्त काल से आत्मा के साथ चिपटा हुआ कर्म-मल जल कर भस्म हो जाता है।

इस प्रकार ब्रह्मचर्य की साधना मनुष्य के जीवन को, जिसमें शरीर और आत्मा-दोनों का समावेश है, शक्तिशाली बनाने वाली है। ब्रह्मचर्य की बूटी की यह एक बड़ी विशेषता है। अहिंसा और सत्य आदि की अलौकिक बूटियाँ आत्मा की शक्ति को बढ़ाती हैं और संसार की दूसरी बूटियाँ इस शरीर को मजबूत बनाती हैं, परन्तु ब्रह्मचर्य की यह बूटी, एक साथ दोनों को अपरिमित बल प्रदान करती है।

इसी कारण ब्रह्मचर्य उत्तम तप माना गया है। जो भाग्यशाली इस तप का अनुष्ठान करते हैं, वे अपने जीवन को पावन और मंगलमय बना लेते हैं।

ब्यावर,
५-११-५०।

शक्ति का केन्द्र-विन्दु

आपकी स्मृति में है न कि मनुष्य का जो वर्त्तमान जीवन है, जो मौजूदा ज़िन्दगी है, वह न अकेले आत्मा से ही सम्बन्धित है और न अकेले शरीर से ही। यह मानव जीवन आत्मा को एक वैभाविक पर्याय है। और जो भी आत्मा के मनुष्य आदि वैभाविक पर्याय होते हैं, वे सब संसार के पर्याय हैं। वे न तो शुद्ध आत्मा के पर्याय होते हैं और न शुद्ध जड़ के ही पर्याय होते हैं।

शुद्ध जड़-पर्याय का मतलब यह है कि उसमें चेतन का अंश न हो—जड़ में जो परिवर्तन आए, चैतन्य के द्वारा न आए। इस प्रकार चेतना के निमित्त के बिना ही जड़ में जो अदलबदल होती है, वह शुद्ध जड़-पर्याय है।

इसी तरह शुद्ध आत्म-पर्याय का अर्थ है-आत्मा के द्वारा

हो आत्मा में परिवर्त्तन का होना, किसी भी रूप में जड़ का निमित्त न होना। शुद्ध आत्मा में जो पर्याय होते हैं, वे केवल आत्मा के द्वारा ही होते हैं। जैसे सम्यक्त्व का आविर्भाव होना आत्मा का शुद्ध पर्याय है। इसी प्रकार सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चारित्र भी आत्मा के शुद्ध पर्याय हैं, श्रावकपन और साधुपन भी आत्मा के ही पर्याय हैं। और इससे आगे बढ़ते-बढ़ते जो परमात्म-भाव अर्थात् सिद्धत्व दशा की प्राप्ति होती है, वह भी आत्मा का ही पर्याय है और निश्चय दृष्टि से वही आत्मा का सर्वथा शुद्ध पर्याय है। उसमें जड़ का निमित्त नहीं है। उस पर्याय की प्राप्ति आत्मा को स्वयं के द्वारा ही होती है।

शुद्ध जड़पर्याय और शुद्ध चेतनपर्याय के अतिरिक्त जड़ और चेतन के कुछ ऐसे पर्याय भी हैं, जिन्हें हम अशुद्ध पर्याय कहते हैं। उदाहरणार्थ शरीर का एक-एक ज़र्रा, जो शरीर के रूप में आया है, वह चेतन के अधिष्ठान से आया है। चेतन ने ही जड़ को शरीर का रूप प्रदान किया है। अतएव यह जो शरीर, इन्द्रियाँ, मन और कर्म हैं, इन्हें हम जड़पर्याय कहते हैं, किन्तु वे उसके अशुद्ध पर्याय हैं।

ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय आदि जो कर्म-पुद्गल हैं, वे अपने आप में जड़ हैं और सारे लोक में बिखरे पड़े हैं। जब वे बिखरे पड़े हैं, तब भी उनमें स्वभावतः रूपान्तर होता रहता है; मगर वह रूपान्तर चेतन के निमित्त से नहीं होता। अतः उस

समय उनके जो पर्याय होते हैं, वे शुद्ध जड़पर्याय कहे जाते हैं। उस समय उन पुद्गलों को पुद्गल ही कहा जा सकता है, जड़ ही कह सकते हैं, कर्म नहीं कह सकते। उन पुद्गलों में कर्म-रूप पर्याय की उत्पत्ति तभी होती है, जब योग और कषाय से प्रेरित होकर आत्मा उन्हें ग्रहण करती है। जब वे पुद्गल, आत्मप्रदेशों के साथ एकमेक हुए और उनमें कार्मिक शक्ति उत्पन्न हो गई, तब उन्हें कर्म-सञ्ज्ञा प्राप्त हुई, अर्थात् उनमें कर्म-रूप पर्याय की उत्पत्ति हुई। और जब तक वे आत्मा के साथ सम्बद्ध रहेंगे—आत्मा के साथ चिपटे रहेंगे, कर्म कहलाते रहेंगे। जब आत्मा से अलग हो जाएँगे तो उन्हें फिर कर्म नहीं कहेंगे! वे फिर जड़ कहलाएँगे, पुद्गल-परमाणु कहलाएँगे या पर्यायान्तर से कुछ भी कहलाएँगे, पर कर्म नहीं कहलाएँगे।

मतलब यह है कि कर्म भी एक प्रकार के पुद्गल हैं। उन पुद्गलों में कर्म-रूप पर्याय का होना अशुद्ध पर्याय है, क्योंकि वह चेतन के द्वारा उत्पन्न हुआ है।

आत्मा में क्रोध, मान, माया, लोभ या राग-द्वेष रूप जो विकार उत्पन्न होते हैं, उनके निमित्त से वह स्वक्षेत्रावगाही उन पुद्गलों को ग्रहण करती है और फिर ज्ञानावरण, दर्शनावरण आदि के रूप में उन्हें परिणत करती है। तो यह परिणति आत्मा के द्वारा ही होती है। इस कारण पुद्गलों के इस परिवर्तन को हम पुद्गल की अशुद्ध पर्याय कहते हैं।

तो यह इन्द्रियाँ, शरीर और मन भी जब तक आत्मा के

साथ हैं, तब तक ही शरीर को शरीर, इन्द्रिय को इन्द्रिय और मन को मन कहते हैं। और जब आत्मा इन सब को छोड़ देती है, तो फिर आगम की भाषा में शरीर, शरीर नहीं कहलाता, इन्द्रिय, इन्द्रिय नहीं कहलाती और मन, मन नहीं कहलाता।

यों तो आप आत्मा के द्वारा छोड़ देने पर भी शरीर को शरीर कहते रहते हैं, पर, वास्तव में ऐसा कहकर आप पुरानी याद को ताज़ा करते हैं। वह शरीर पहले आत्मा के साथ रहता था, इसी कारण उसे शरीर कहते हैं। और वह भी कुछ समय तक ही कहते हैं—जब तक उसकी आकृति वही बनी रहती है। राख बन जाने पर उसे कौन शरीर कहता है ?

यदि वह शरीर है तो किसी न किसी का होना चाहिए। जब आत्मा उसे छोड़ कर चली गई है तो वह किसका शरीर है ? अतएव इस रूप में वह शरीर, शरीर नहीं माना जाता और इन्द्रिय, इन्द्रिय नहीं मानी जाती और मन, मन नहीं माना जाता। आगम की भाषा में वे सब पुद्गल माने जाते हैं।

इस प्रकार जड़ के द्वारा और आत्मा के द्वारा भी एक दूसरे में अशुद्ध पर्याय उत्पन्न किये जाते हैं।

कोई जीव नरक में गया। उसने जो नारक का रूप लिया है, तो वह आत्मा का शुद्ध पर्याय है या अशुद्ध पर्याय ? वह कर्म-निमित्त से नारक बना है, पुद्गल के संसर्ग से बना है, इसलिए अशुद्ध पर्याय है। इसी प्रकार देव, मनुष्य और तिर्यञ्च आदि पर्याय भी आत्मा के अशुद्ध पर्याय हैं।

इसी प्रकार क्रोध, मान, माया और लोभ भी अशुद्ध पर्याय हैं। किं बहुना जितने भी औदयिक भाव आत्मा में उत्पन्न होते हैं; सब अशुद्ध पर्याय हैं। वे आत्मा के निज पर्याय नहीं हैं; क्योंकि उनकी उत्पत्ति जड़ के निमित्त से हुई है।

कोई मनुष्य क्रोध करता है। हम जानते हैं कि जड़ में क्रोध उत्पन्न नहीं होता, किन्तु आत्मा में होता है। पर, क्रोध यदि आत्मा का स्वाभाविक गुण होता तो मुक्त दशा में भी उसकी सत्ता रहनी चाहिए थी। यही नहीं, मुक्त दशा में तो स्वाभाविक गुणों का परिपूर्ण विकास होता है, अतएव वहां क्रोध का भी पूर्ण विकास होना चाहिए था। परन्तु ऐसा नहीं है। क्रोध और दूसरे कषाय भी, कर्म के संयोग से आत्मा में उत्पन्न होते हैं। अतः आत्मा में उत्पन्न होने पर भी उन्हें आत्मा का शुद्ध पर्याय नहीं कह सकते।

तो हमारी स्थिति क्या है? मनुष्य जब तक संसार में है और संसार की भूमिका में रह रहा है, तब तक उसे हम न एकान्ततः शुद्ध कहेंगे और न अशुद्ध। उसमें शुद्ध पर्याय भी हैं और अशुद्ध पर्याय भी हैं।

मनुष्य का जीवन अपने आप में अशुद्ध पर्याय है। जड़ और चेतन, दोनों के विकार से मानव शरीर और मानव जीवन बना है। एक तरफ़ कर्म हैं, शरीर है, इन्द्रियां हैं और मन है और दूसरी तरफ़ उसकी अपनी आत्मा है। दोनों का मिलकर हमारे सामने एक पिण्ड खड़ा है। उसकी उपमा दी गई है कि

लोहे का एक गोला आग में पड़ा है। धीरे-धीरे जब लोहे का गोला आग की गर्मी ले लेता है और लोहे के अन्दर कण-कण में आग समा जाती है तो उसका कोई भाग ऐसा नहीं बाक़ी रहता, जिसमें लोहा और आग-दोनों न हों। जहाँ लोहा है वहीं अग्नि है और जहां अग्नि है वहीं लोहा है।

लोहे के गोले की यह जो स्थिति है, वही मनुष्य जीवन की स्थिति है। एक ओर तो हमारा शरीर है, पिण्ड है और दूसरी ओर उसके अणु-अणु में आत्मा अग्नि की तरह चमक रहा है। कोई जगह खाली नहीं, जहाँ आत्मा न हो और कोई जगह ऐसी नहीं जहां आत्मा तो हो, मगर शरीर न हो।

सर्वत्र यही विधान है। इसका विश्लेषण करना ही साधक का काम है।

एक वैज्ञानिक के सामने जब तपा हुआ गोला आ जाता है तो वह विश्लेषण करता है कि यह लोहा है और यह अग्नि है। दो चीजें सामने आती हैं तो विश्लेषण किया जाता है कि यह अमुक है और यह अमुक है। विचारक के मन में अवश्य ही भेद-बुद्धि पैदा होती है।

साधक, चाहे वह गृहस्थ हों अथवा साधु हों, एक ही ध्येय लेकर आये हैं। और वह महान् ध्येय यही है कि आत्मा को अलग, और शरीर, इन्द्रिय एवं मन को अलग समझ लें। आत्मा में पैदा होने वाले औदयिक भावों को—क्रोध आदि विकारों को अलग समझ लें और आत्मा को अलग समझ लें।

जिस साधक ने यह समझ लिया, वह अपनी साधना में दृढ़ बन गया। फिर संसार का कोई भी सुख या दुःख उसको विचलित नहीं कर सकता। जब तक यह भूमिका नहीं आती है, तब तक मनुष्य सुख से मचलता है और दुःख से घबराता है। जीवन की दोनों दशाएँ हैं—एक सुख और दूसरी दुःख देती है। किन्तु जब उक्त भेद-विज्ञान दशा को प्राप्त कर लिया जाता है, तब न सुख विचलित कर सकता है और न दुःख ही। जब दुःख आए तो दुःख में न रह कर आत्मा में रहे और जब सुख आए तो सुख में न रह कर आत्मा में रहे। और समझ लिया जाए कि यह तो संसार की परिणति है। जो अच्छा या बुरा चल रहा है, वह आत्मा का नहीं है। यह आत्मा का स्वरूप नहीं है। यह तो पुद्गल के निमित्त से आत्मा में उत्पन्न होने वाली विभाव-परिणति है। तो जब तक यह है, तब तक है, और जब चली जाएगी तो फिर कुछ नहीं है। इस प्रकार भेदविज्ञान की भूमिका प्राप्त कर लेने वाला आत्मा अपने स्वरूप में रमण करने लगता है।

जैन-धर्म का यही दर्शन है। जैन-धर्म में बतलाये गये चौदह गुणस्थान और क्या हैं? वे यही बतलाते हैं कि अमुक भूमिका में पहुँचने पर सम्यक्त्व की प्राप्ति हो जायगी और अमुक भूमिका में जाने पर क्रोध, अभिमान, माया और लोभ छूट जाएँगे और अमुक भूमिका में जाकर ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, मोह और अन्तराय कर्म हट जाएँगे और फिर आगे की भूमिका में आयुष्

आदि शेष चार कर्म भी दूर हो जाएँगे। इसके पश्चात् आत्मा सर्वथा विशुद्ध परमात्म-स्वरूप को प्राप्त कर लेगी। यह है जैनदर्शन की स्थिति !

तो हमारी अहिंसा, सत्य, अस्तेय और ब्रह्मचर्य की जो साधना है, वह किस रूप में है ? इसी रूप में कि हम इस शरीर में रहते हुए भी शरीर से अलग हो सकें। शरीर में रहते हुए भी शरीर से अलग होने का अर्थ क्या है ? अर्थ यह है कि कर्मों का क्षय तो जब होगा तब होगा, किन्तु हम अपनी विवेकबुद्धि से तो उनसे अलग हो सकें !

जब तक आयु कर्म की परम्परा मौजूद है, हमें शरीर में रहना है और जब तक नाम कर्म की धारा बह रही है, शरीर से पृथक् नहीं हो सकते—एक के बाद एक शरीर का निर्माण होता ही जायेगा; किन्तु यह शरीर और यह इन्द्रियाँ आत्मा से भिन्न हैं, जो इस परमतत्त्व को समझ लेते हैं और उसमें आस्थावान् हो जाते हैं वे शरीर में रहते हुए भी शरीर से अलग मालूम होते हैं !

इसे स्व-पर-विवेक कहें, भेद-विज्ञान कहें, आत्मा-अनात्मा का भान कहें, या आत्मानुभूति कहें, वास्तव में यही धर्म है। समस्त साधनाएं और सारे क्रियाकाण्ड इसी अनुभूति के लिए हैं। व्रत, नियम, तप और जप, आदि का उद्देश्य इसी अनुभूति को पा लेना है। ज्ञान, ध्यान, सामायिक और स्वाध्याय इसी के लिए किए जाते हैं। जिस साधक को यह भेद-विज्ञान प्राप्त हो गया उसको मुक्ति हो गई, उसके भव-भव के बन्धन छिन्न-विच्छिन्न हो

गये, वह कृतार्थ हुआ और शुद्ध सच्चिदानन्दमय बन गया।

आज-कल धर्म के सम्बन्ध में इतना संघर्षमय वातावरण बन गया है कि साधक को राह नहीं मिलती है और वह चक्कर में पड़ जाता है। फलतः धर्म के वास्तविक रूप को समझना उसके लिए मुश्किल हो जाता है!

वास्तव में धर्म क्या है? जितना-जितना पुद्गल का भाव और जड़ का अंश कम होता जाता है और जड़ के निमित्त से आत्मा में पैदा होने वाले विकार जितने-जितने कम होते जाते हैं, उतनी ही उतनी आत्मा शुद्ध होती जाती है। और आत्मा में जितनी-जितनी यह शुद्धि बढ़ती जाती है, वह धर्म है, और वह धर्म जितना-जितना बढ़ता जाता है, उतना-उतना वह हमारे बंधनों को तोड़ता चलता है और जैसे-जसे बंधन टूटते जाते हैं, परम-पद मोक्ष प्राप्त होता जाता है।

यह आत्मा की मूल और सही स्थिति है। हमारी इस स्थिति में ब्रह्मचर्य क्या करता है? इस प्रश्न का उत्तर पाने के लिए हमें ब्रह्मचर्य शब्द का अर्थ समझ लेना आवश्यक है।

'ब्रह्मचर्य' में एक 'ब्रह्म' और दूसरा 'चर्य' शब्द है। व्याकरण की दृष्टि से शब्दों की बनावट पर ध्यान देना चाहिए। किसी भी शब्द का जब तक विश्लेषण करके न देख लें तब तक उस का जो महत्त्वपूर्ण अर्थ है, वह हमारी समझ में नहीं आता है। ब्रह्मचर्य संस्कृत भाषा का शब्द है और व्याकरण के अनुसार जब उसका विश्लेषण करते हैं तो दो शब्द हमारे सामने आते

हैं। 'ब्रह्म' और 'चर्य' यह दो शब्द मिल कर एक 'ब्रह्मचर्य' शब्द बना है।

'ब्रह्म' का अर्थ है—शुद्ध भाव। शुद्ध भाव कहिए या परमात्म-भाव कह लीजिए, बात एक ही है, तो 'ब्रह्म' की तरफ़ चर्या करना अर्थात् गति करना या चलना। मतलब यह है कि ब्रह्म के लिए, परमात्मभाव के लिए चलना, गति करना, उन्मुख होना, उस ओर अग्रसर होना, उसके लिए साधना करना, बस यही ब्रह्मचर्य का अर्थ है। तात्पर्य यह है कि जो जीवन में परमात्मभाव की ज्योति झलका देता है, वही ब्रह्मचर्य है।

ब्रह्मचर्य, जीवन में परमात्मभाव की ज्योति इसलिए झलका देता है कि उसको साधना में दूसरे विकारों का दमन करना भी आवश्यक बन जाता है। और दूसरे विकारों के दमन करने का अर्थ है, महान् अन्तःसंघर्ष। देखा जाता है कि मनुष्य बाहर की धर्मक्रियाएँ तो बड़ी सरलता के साथ निभा लेता है, तिलक-छापे लगा कर, जनेऊ धारण करके, जटायें बढ़ाकर पूरा धार्मिक बन जाता है; मगर परमात्मभाव की प्राप्ति के निमित्त ब्रह्मचर्य का पालन करना उसके लिए बहुत कठिन पड़ता है। उसके मन के भीतर अनेक द्वन्द्व उठ खड़े होते हैं। ऐसे समय में अनेक विकार जाग उठते हैं, और उन विकारों की छाया में मनुष्य का मन बार-बार मनुष्य से कहता है, पीछे लौट! दुनियाँ में आया है तो दुनियाँ के सुखों को भोग। भोगों से उदासीन क्यों होता है, मूर्ख! इस तरह से स्वयं को कसने में क्या रक्खा है?

और मन की ऐसी बातें सुनकर साधक बार-बार विचलित होता है—और ठोकर खाकर कभी-कभी गिरने को, पथच्युत होने की भी बात सोचता है—और ऐसा देखा जाता है कि पीछे लौट भी जाता है। तो, इस कठिन-कठोर ब्रह्मचर्य के मार्ग पर कोई बिरला साधक ही ठहर पाता है, आगे बढ़ पाता है और मोक्ष को प्राप्त करता है। इस सम्बन्ध में राजर्षि भर्तृहरि ने बहुत ही स्पष्ट शब्दों में कहा है—

मत्तेभकुम्भ-दलने भुवि सन्ति शूराः,
केचित् प्रचण्ड-मृगराजवधेऽपि दक्षाः।
किन्तु ब्रवीबमि बलिनां पुरतः प्रसह्य,
कन्दर्प-दर्प-दलने विरला मनुष्याः॥

धर्म-शास्त्रों की विधान की भाषा में साधु का ब्रह्मचर्य पूर्ण माना जाता है; परन्तु वह पूर्णता बाह्य प्रत्याख्यान की दृष्टि से है। पूर्ण ब्रह्मचर्य का लक्ष्य रख कर की जाने वाली एक महान् प्रतिज्ञा-मात्र है। साधु स्व-स्त्री और पर-स्त्री दोनों का ही त्याग करके चलता है। उसकी साधना में गृहस्थ के समान स्वस्त्री की भी छूट नहीं रहती है। बस, इसी दृष्टि को ध्यान में रखकर साधु के ब्रह्मचर्य को पूर्ण बताया गया है—अन्यथा, अन्तर्जीवन में टटोल कर देखें तो क्या वस्तुतः उसका ब्रह्मचर्य पूर्ण हो गया है—क्या उसके सभी अन्तर्द्वन्द्व समाप्त हो गये हैं—क्या वासना की सभी बूँदें सूख गई हैं? नहीं, यह सब कुछ नहीं हुआ है। अभी साधु को भी मन के विकारों से एक लम्बी लड़ाई लड़नी है। यह नहीं

कि—'अप्पाणं वोसिरामि' कहा और बस उसी दिन ब्रह्मचर्य की पूरी साधना हो गई। उसी दिन यदि अहिंसा, सत्य और ब्रह्मचर्य पूरे हो गये और जो भी साधु की साधना है, वह पूरी हो गई तो फिर आगे के लिए जीवन संसार में क्यों है? अब उसे करना क्या है? उसे जो कुछ भी पाना था, वह पा चुका है। उसी घड़ी और उसी क्षण पा चुका है। उसके जीवन में पूर्णता आ गई है। अशुद्धि जीवन में रही ही नहीं। फिर अब वह किससे लड़ता है? किस लिए साधना कर रहा है? और साधना के मार्ग पर जो क़दम सँभाल कर रख रहा है सो आखिर किस प्रयोजन से रख रहा है?

साधुत्व की प्रतिज्ञा लेते ही ब्रह्मचर्य, सत्य और अहिंसा आदि में पूर्णता आ जाती है, तो इसका अर्थ यह हुआ कि चारित्र में पूर्णता आ जाती है। चारित्र में पूर्णता आ जाने पर, जानते हैं, मनुष्य की क्या स्थिति होती है? चारित्र की परिपूर्णता आत्मा में परमात्म-दशा पैदा कर देती है और मुक्ति प्रदान करती है। फिर कोई भी साधक साधुत्त्व की प्रतिज्ञा लेने के साथ ही सिद्ध, बुद्ध और मुक्त क्यों नहीं हो जाता?

तो साधुत्त्व की प्रतिज्ञा, प्रतिज्ञा है और अब जीवन भर उस प्रतिज्ञा के मार्ग पर चलना है और निरन्तर चलना है। कभी साधक लड़खड़ा भी जाता है, भटक भी जाता है। चिरकाल के संचित संस्कार कभी-कभी दबाने का प्रयत्न करने पर भी उभर आते हैं और मन को गड़बड़ में डाल देते हैं।

मन ऐसा घोड़ा है, इतना हठी और चंचल है, कि सवार ले जाना चाहता है उसे और दिशा में और वह दौड़ पड़ता है किसी और दिशा में। वह सवार की आज्ञा नहीं मानता है। सवार दुर्बल और घोड़ा बलवान् है। वह सवार का कहना नहीं मानता है। गीता में कहा है—

चञ्चलं हि मनः कृष्ण
प्रमाथि बलवद् दृढम्।

तो पूर्ण साधना के क्षेत्र में उपस्थित होकर साधक को अपने 'घोड़े' पर नियन्त्रण करना है, किन्तु वह दौड़ता रहता है। धीरे-धीरे जब ज्ञान की बागडोर 'सवार' के हाथ में आ जाती है तो वह घोड़े को अपनी अभीष्ट दिशा की ओर ले जाता है। एक संत कहते हैं—

मन सब पर असवार है, मन के मते अनेक।
जो मन पर असवार है, वह लाखन में एक॥

मन सब पर सवार है! कहने को तो कहते हैं कि घोड़े पर सवार चढ़ा हुआ है; किन्तु मन का घोड़ा ऐसा घोड़ा है कि वह सवार पर ही सवार रहता है और सवार को किधर-का-किधर ले जाता है। उसने सवार पर ही अपना नियंत्रण या 'कंट्रोल' कर रक्खा है और घोड़े के पीछे-पीछे सवार उड़ा जा रहा है।

तो कभी-कभी ऐसा होता है कि जब बहुत बड़ी सभा होती है और हजारों आदमी इकट्ठे होते हैं और सभापति के गले में फूलों की मालाएँ डालकर उसे कुर्सी पर बिठा देते हैं, तब उसकी

अंगभंगी को देखो तो मालूम होगा कि उस पर अहंकार छा गया है। जब यह दृश्य देखने को मिलता है तो प्रत्यक्ष में तो यह मालूम होता है कि यह कुर्सी पर बैठा है, किन्तु वास्तव में कुर्सी उस पर बैठ गई है ! जीवन की यह कितनी विचित्र बात है !

जब यह विकार आते हैं तो मालूम होता है कि जीवन की साधना कितनी विचित्र और महान् है ! कोई स्वयं घोड़े पर सवार हुआ दीखता है, पर देखना है कि घोड़ा ही तो कहीं उस पर सवार नहीं हो गया है ? और जो कुर्सी पर चढ़ा है सो कुर्सी ही तो उस पर नहीं चढ़ बैठी है ? कपड़ों ने तो हमें नहीं पहन लिया है ? और हम इज्जत और प्रतिष्ठा पैदा करते हैं, किन्तु उन्होंने तो हमें नहीं पकड़ लिया है ? और सचमुच संसार में ऐसी विचित्र बातें होती हैं कि वे ही उसको पकड़ लेती हैं।

एक गुरू था और एक था चेला। प्रातः की लाली में दोनों चले जा रहे थे नदी पर स्नान करने। नदी किनारे पहुँचे तो कुछ साफ़ नज़र नहीं आता था। जब वह शिष्य और गुरू नदी में स्नान करने लगे तो अचानक गुरू की दृष्टि एक काली चीज़ पर पड़ी। वह बहती हुई जा रही थी। तो उसने शिष्य से कहा—देख, वह कम्बल बहा जा रहा है, किसी का बह गया है। तू उसे पकड़ ला।

शिष्य ने कहा—महाराज, मुझसे तो वह नहीं पकड़ा जायगा। गुरू ने फटकारा—तू इतना हट्टा-कट्टा है और कम्बल भी नहीं पकड़ा जाता ! अच्छा मैं ही जाता हूँ।

गुरू ने छलांग लगाई और उसे पकड़ा तो वह कम्बल नहीं,

रीछ था ! गुरु ने ज्योंही उसे पकड़ा कि उसने गुरु को पकड़ लिया !

अब गुरु अपना पिण्ड छुड़ाने की कोशिश कर रहे हैं और जल के अन्दर गुत्थम-गुत्था हो रही है।

चेले को कुछ स्पष्ट दीख नहीं रहा था—देर होगई तो उसने आवाज़ दी—गुरुजी, कम्बल छोड़दो, रहने भी दो, कम्बल कहीं और मांग लेंगे।

तब गुरु ने कहा—गुरु तो कम्बल को छोड़ना चाहता है, किन्तु कम्बल ही उसे नहीं छोड़ रहा है।

तो जो बात गुरु और शिष्य की है, वही बात सारे संसार की है। हमने किसी चीज़ को चाहा और उसे पकड़ ने गये और पकड़ लिया; परन्तु बहुत बार ऐसा होता है कि वही चीज़ हमें पकड़ लेती है और ऐसा पकड़ लेती है कि सारी ज़िन्दगी बीत जाती है, फिर भी वह पिण्ड नहीं छोड़ती।

संसार की यह दशा है। इस दशा से मुक्ति पाने के लिये ही अहिंसा, सत्य, अस्तेय और ब्रह्मचर्य की कला बतलाई गई है। मनुष्य एक ही झटके में इस दशा से अपने आप को छुड़ा सकता है; किन्तु मन की गति बड़ी विचित्र है, वह सब पर सवार है।

बात यह है कि मन आत्मा की ही शक्ति है, आत्मा ने ही उसे जन्म दिया है। अब जन्म देने वाले में यह कला भी होनी चाहिए कि वह उसे अपने वश में रख सके। किन्तु वह 'भूत'

ऐसा है कि जिसे जगा तो दिया है, किन्तु उसे वश में रखने की यदि क्षमता नहीं है तो वह जैसा चाहेगा, वैसा होगा। उसके नचाये नाचना पड़ेगा।

तो इस रूप में मन ने हमको पकड़ लिया है। सारी ज़िन्दगी मन की गुलामी करते-करते समाप्त हो जाती है; फिर भी उससे पिण्ड नहीं छूटता। वह कितने ठनगन करता है, क़ितना नाच नचाता है। हमारी शक्ति हमारे लिए ही वरदान बनने के बजाय अभिशाप बन जाती है। अनन्त-अनन्त काल बीत गया है और बीतता जा रहा है। मगर मन वासनाओं को नहीं छोड़ता। वह कभी तृप्त नहीं होता, कभी ऊबता नहीं। और जब देखो तभी भूखा-का-भूखा बना रहता है। मन पर हमको सवार होना चाहिए था, पर वह हम पर सवार होगया है।

मन की गति का प्रवाह किसी भी क्षण शान्त नहीं होता है। आप किसी नदी के किनारे खड़े हो जाएँ तो देखेंगे कि नदी की धारा निरन्तर बहती जा रही है। एक बूँद के पीछे दूसरी और तीसरी बूँद वह रही है। निरन्तर अविश्रान्त गति से वहाव वहता रहता है। ठीक यही हालत मन सरिता के प्रवाह की है। सोते-जागते प्रत्येक क्षण मन की नदी भी वहती रहती है। हमारी चेतना का प्रवाह एक क्षण के लिए भी नहीं रुकता। मन की वृत्ति क्षण-क्षण में वदलती रहती है। किन्तु धन्य है वह, जो मन पर सवार हो गया है और जो मन को अपने अधिकार में रखता है। जिधर सवार चाहता है उधर ही मन, शरीर और इन्द्रियाँ

दौड़ती हैं। सारा शरीर उसकी आज्ञा में है। सेनापति की आज्ञा में हजारों-लाखों वीरों की सेना होती है। उसके ज़रा से संकेत पर हज़ारों-लाखों तलवारें म्यान से बाहर होकर चमचमाने लगती हैं और उसी की दूसरी आज्ञा पर चुप-चाप ज़मीन पर रखदी जाती हैं। ऐसा अनुशासन होता है कि हज़ारों मौत के घाट पर लड़ते हैं और अपनी जान लड़ा देते हैं। क्या मज़ाल कि कोई इधर से उधर हो जाए।

तो सेना पर सेनापति का जैसा अनुशासन होता है, वैसा ही जिसका नियंत्रण अपने मन पर है, विचारों और इच्छाओं पर है; वह साधक अपने जीवन में कभी पराजित नहीं हो सकता। उसको कभी हार नहीं हो सकती।

साधना का एक ही मार्ग है कि हम अपनी इन्द्रियों, मन और शरीर को आत्मा के केन्द्र पर ले आएँ, अपने तमाम व्यापारों को आत्मा में ही केन्द्रीभूत करलें।

इस प्रकार जब आत्मा की समस्त शक्तियाँ केन्द्रित हो ज़ाती हैं तो ब्रह्मचर्य की शक्ति बढ़ जाती है और यह केन्द्रीकरण जितना जितना मज़बूत होता जाता है, ब्रह्मचर्य की शक्ति में वृद्धि होती चली जाती है।

भूख लगती है तो शरीर को भोजन देंगे, किन्तु मन मांगेगा वह नहीं देंगे। वही दिया जायगा जो हम चाहते हैं। तो आखें, कान, नाक आदि अपना-अपना कार्य करते हैं; किन्तु उनका चाहा नहीं होगा, जो हम चाहेंगे वही होगा।

इस रूप में जब साधक अपने जीवन पर, अपनी इन्द्रियों पर, अपने शरीर और मन पर ठीक अधिकार कर लेता है, तो आत्मा में राग और द्वेष की परिणति कम हो जाती है और राग-द्वेष की परिणति जितनी-जितनी कम होती जायगी, उतना-उतना ही ब्रह्मचर्य का विकास होता जाएगा।

इस प्रकार ब्रह्मचर्य की साधना अन्दर और बाहर दोनों क्षेत्रों में चलती है। वह अकेले आत्मा में या अकेले शरीर में नहीं चलती है; अलबत्ता शरीर पर भी ब्रह्मचर्य का प्रभाव पड़ता है और इतना सुन्दर प्रभाव पड़ता है कि उसे वाणी के द्वारा व्यक्त करना कठिन है। जो सदाचारी माता-पिता की सन्तान है, वह इतना सुदृढ़ सुगठित होता है कि संसार की चोटों से तनिक भी नहीं घबराता। किन्तु इसके विपरीत लम्पट माता-पिता की सन्तान दुःखों की चोटों से कांपने लगती है! छोटे-छोटे बच्चे, जिनकी ज़िंदगियाँ अभी पनपी नहीं, जब दिल की धड़कन की बीमारी से तंग आ जाते हैं, निस्तेज एवम् निष्प्राण से हो जाते हैं तो मालूम होता है कि माता-पिता ने भूल की है। इसी कारण उनका शरीर जर-जर हो रहा है। जब अधिष्ठाता (आत्मा) ही दुर्बल है तो उसका अधिष्ठान शरीर भी बलवान् नहीं होगा। दुर्बल और निःसत्त्व शरीर में सबल और सत्त्वशाली आत्मा का निवास किस प्रकार हो सकता है!

आप एक बात पर विचार करें, जैनधर्म में जब मोक्षप्राप्ति की योग्यता पर विचार किया गया तो जहाँ आध्यात्मिक शक्ति

सबलता पर ज़ोर दिया गया, वहाँ शारीरिक शक्ति को भी महत्त्व पूर्ण स्थान दिया गया।

आपको मालूम होना चाहिए कि हमारे यहाँ 'संहनन' और 'संठाण' (संस्थान-आकृति) का सूक्ष्म विचार किया गया है। शरीर की आकृति कैसी है, वह ऊँचा है या नीचा है, यह सब संस्थान कहलाता है। और शरीर की सबल निर्बल रचना, शरीर का बल और हड्डियों का बल, यह सब संहनन हैं। जब मोक्ष की बात आई तो कहा कि मोक्ष के लिए कोई विशेष संस्थान अपेक्षित नहीं है। शरीर समचौरस हो तो भले हो और बौना हो तो भी कोई हानि नहीं है। शरीर की आकृति सुन्दर हो तो भी ठीक है और न हो तो भी बुराई नहीं। न आकृति की सुरूपता से मोक्ष मिलता है और न आकृति की कुरूपता से मोक्ष रुकता है।

किन्तु संहनन? वह अवश्य अपेक्षित है। यहां आकर जैनधर्म जितना अध्यात्मवादी है, उतना ही भौतिकवादी भी बन गया। जैनधर्म जब मोक्ष के लिए चला और आत्मा के बन्धनों को तोड़ने के लिए चला और जीवन की महान् मंज़िल को पार करने के लिए चला तो उसने आत्मा की बातें कहीं, ९९९ बातें आत्मा की कहीं तो एक बात शरीर के सम्बन्ध में भी कह दी। इस रूप में वह भौतिकवादी भी हो गया। जैनधर्म ने कहा—कितना ही सुन्दर शरीर क्यों न हो, उससे मोक्ष नहीं मिलेगा, किन्तु वज्रऋषभ नाराच संहनन होगा, तभी मोक्ष मिलेगा। वज्रऋषभनाराच

संहनन के अभाव में मोक्ष नहीं मिल सकता।

जैनधर्म ने विचार किया है कि ऊँचे विचार, ऊँचे संकल्प, उच्च भावना का बल, अपने सिद्धान्त पर अड़े रहने का बल और संसार के संघर्षों में रहते-रहते भी अपने पैर न उखड़ने देने का बल, वज्रऋषभनाराच संहनन में ही मिल सकता है।

इसका मतलब यह है कि हमारा अध्यात्मवाद एक प्रकार से भौतिकता की नींव पर खड़ा है, अतः उसका आधार शरीर को बना दिया गया है। किन्तु साधक भटक न जाय, भ्रम में न रह जाय, इसलिए जैनधर्म साथ ही यह भी कहता है कि वज्रऋषभनाराच के होने पर ही मोक्ष मिलता है, यह सही है, पर यह सही नहीं कि उसके होने पर मोक्ष मिलता ही है। वज्रऋषभनाराच संहनन मोक्ष की अनेक आध्यात्मिक अनिवार्यताओं के साथ एक भौतिक अपरिहार्य—अनिवार्यता है। हाँ, अन्त में शरीर को छोड़ना है, संहननमात्र को भी छोड़ना है, किन्तु यह छोड़ना तभी सम्भव होगा जब कि वह संहनन प्राप्त होगा।

किसी भी महल की नींव अगर ठोस ज़मीन पर रक्खी गई होगी तो मंजिल ऊँची चढ़ती जायगी। और यदि भूमि दलदल वाली है और उसमें ठोसपन नहीं है, और कोई संगमरमर का महल उस पर खड़ा करना चाहे तो उसका प्रयास निष्फल हो जायगा। वह महल कदाचित् खड़ा हो भी गया तो अधिक समय तक ठहरने वाला नहीं। किसी भी समय वह धराशायी हो सकता है।

मऊ की तरफ़ एक सज्जन हैं, जो बड़े भारी मन्दिर का निर्माण

कर रहे हैं। आज इस दरिद्र देश की सम्पत्ति को नये मन्दिरों के निर्माण में लगाना कहाँ तक उचित है, इस प्रश्न की मीमांसा यहाँ नहीं करनी है और न किसी सैद्धान्तिक दृष्टि से ही विचार करना है। हमें यहाँ उसकी नींव की ही बात का उल्लेख करना है। वे उस मन्दिर पर तीन करोड़ रुपया ख़र्च करना चाहते हैं। एक सज्जन ने उनसे कहा—साठ फुट ज़मीन तो नींव के लिए खोद ली गई है, अब और कितनी खुदवाओगे? क्या पाताल के तल पर नींव रक्खोगे?

निर्माण-कर्ता ने उत्तर दिया—सौ, दो सौ या तीन सौ फुट भी क्यों न नींव खुद जाय, किन्तु जहां मज़बूत चट्टान आ जायगी, वहीं नींव रख देंगे। पचास या साठ फुट पर नींव रखने का संकल्प हमने नहीं किया है, हमारा संकल्प यह है कि जहां मज़बूत चट्टान आएगी, वहीं नींव रक्खेंगे। इस प्रकार मेरी कल्पना के अनुसार अगर नींव रक्खी गई तो उस पर खड़ी हुई दीवारें और भवन दुनिया भर के झटकों को बरदाश्त कर लेंगे।

तो जीवन निर्माण के विषय में भी यही सिद्धान्त लागू होता है। निस्सन्देह जीवन में अध्यात्मवाद महत्त्वपूर्ण है, किन्तु उसको हमें उचित एवम् अपेक्षित भौतिकता से भी मज़बूत बनाना है। भारतीय जैनेतर दर्शन में भी कहा है:—

नायमात्मा बलहीनेन लभ्यः।

—कठोपनिषद्

अर्थात् जो शरीर निर्बल है और असमर्थ है, उससे आत्मा

के दर्शन नहीं हो सकते। और भी कहा है—

बलवति शरीरे बलवत आत्मनो निवासः।

अर्थात्—बलवान् शरीर में बलवान् आत्मा का निवास होता है। दुर्बल शरीर में बलवान् आत्मा नहीं रहता।

इस प्रकार जो आत्मा अपनी महान् मंजिल को तै करने चला है, उसे अपने शरीर की मजबूती को भूल नहीं जाना चाहिए।

ब्रह्मचर्य सब से पहले हमारे शरीर को धारण करता है, उसे सबल बनाता है और उसका वास्तविक निर्माण करता है। शारीरिक क्षमता ब्रह्मचर्य के अभाव में नहीं आती। अतएव शारीरिक क्षमता के द्वारा आध्यात्मिक क्षमता को प्राप्त करने के लिए ब्रह्मचर्य की अनिवार्य आवश्यकता होती है। ब्रह्मचर्य की साधना करके शरीर को जितना सबल बनाया जायगा, उतना ही वह संसार के तूफ़ानों को और साधना में आने वाले संकटों को बर्दाश्त करने में समर्थ हो सकेगा।

ब्यावर
६-११-'५०

जीवन-रस

हमारा जो मौजूदा जीवन है, वह शरीर और आत्मा दोनों के मेल का फल है। वहां शरीर भी है और आत्मा भी है। तात्विक दृष्टि से शरीर, शरीर है और आत्मा, आत्मा है। शरीर जड़ है और वह पंच भूतों से बना हुआ है। आत्मा चिदानन्दमय है। और किसी से भी बना हुआ नहीं है। इस जीवन का जब अन्त होता है तो यह दृश्य शरीर यहीं पड़ा रह जाता है और आत्मा अपनी अगली महायात्रा के लिए चल देता है। शरीर, आत्मा नहीं हो सकता और आत्मा, शरीर नहीं हो सकता।

इस प्रकार दोनों की सत्ता निराली-निराली होने पर भी दोनों में बहुत घनिष्ठ और महत्त्वपूर्ण सम्बन्ध है। दोनों का

एक दूसरे पर गहरा प्रभाव पड़ता है। यही कारण है कि जब हम जीवन के सम्बन्ध में विचार करते हैं तो शरीर और आत्मा-दोनों हमारी नजरों में झूलने लगते हैं और इनमें से किसी एक की भी उपेक्षा करके हम दूसरे का विचार नहीं कर सकते। अगर कोई इस प्रकार एकांगी विचार करता भी है तो वह समग्र जीवन के विषय में शुद्ध दृष्टिकोण उपस्थित नहीं कर सकता।

ऐसी स्थिति में मनुष्य का यही कर्त्तव्य है कि वह आत्मा और शरीर दोनों का यथोचित विकास करे, दोनों को ही सशक्त बनाए, दोनों में ही किसी प्रकार की गड़बड़ न होने दे।

कई पन्थ ऐसे हैं, जो केवल आत्मा की ही बातें करते हैं और जब बातें करते हैं तो उनका मुद्दा यही होता है कि शरीर बीमार रहता है तो रहा करे! हमें इससे क्या सरोकार है! इसे तो एक दिन छोड़ना है। जब एक दिन छोड़ना ही है तो इसका क्या लाड़-प्यार! यह तो मिट्टी का पुतला है। जब टूट जाय तभी ठीक है। इस प्रकार की मनोवृत्ति के कारण वे अपने शरीर की ओर यथोचित ध्यान नहीं देते।

इस प्रकार का विचार रखने वाले लोग बड़ी लम्बी-लम्बी और कठोर साधनाएँ करते हैं, किन्तु फिर भी आत्मा को मजबूत नहीं बना पाते हैं।

भगवान् महावीर के युग में ऐसे साधकों की संख्या बहुत अधिक थी, जिन्हें अपनी साधना के सही लक्ष्य और उपायों का ठीक-ठीक पता नहीं था, किन्तु जो शरीर को ही दण्डित करने

पर तुले हुए थे। भगवान् महावीर ने उनके लिए जिस शब्द का प्रयोग किया है, वह कड़ा तो है, मगर सचाई भी उसमें भरपूर है। भगवान् ने ऐसी साधना को बालतप और अज्ञानकष्ट कहा है।

अभिप्राय यह है कि जो लोग इस शरीर को ही दण्ड देने पर तुल गये हैं; इसे बर्वाद् करने को तैयार हो गये हैं, वे समझते हैं कि बुराइयाँ सब शरीर में ही हैं, सारे अनर्थों का मूल शरीर ही है; इस शरीर को नष्ट कर दिया जाय तो आत्मा पवित्र हो जायगी।

इस प्रकार की धारणा से प्रेरित होकर वे बड़ा भयंकर तप करते हैं। कोई-कोई अपने चारों ओर धूनियाँ धधका लेते हैं और ऊपर से सूर्य की कड़ी धूप को झेलते हैं। जेठ के महीने में इस रूप में पंचाग्नि ताप से तपा कर शरीर को कोयले का ढेर बना लेते हैं! उनकी समझ में शरीर की चमड़ी क्या जलती है, मानों आत्मा के विकार जलते हैं।

जब कड़ी सर्दी पड़ती है, तब ठंडे पानी में खड़े हो जाते हैं। घंटों खड़े रहते हैं और इस तरह शीत की वेदना को सहन करते हैं। वे समझते हैं कि ऐसा करने से हमारी आत्मा पवित्र हो रही है।

कोई-कोई तापस ऐसे भी हैं, जिन्होंने खड़े रहने का ही नियम ले लिया है! मैंने एक वैष्णव साधु को देखा है, जो सात वर्षों से खड़ा था। उसके पैर सूज कर स्तंभ हो रहे थे और ख़ून सिमट कर नीचे की ओर जा रहा था। उसने एक झूला डाल

रक्खा था कि जब खड़ा न रहा जाय तो उस पर झुक कर आराम ले लिया जाय, किन्तु रहे खड़ी अवस्था में ही ! इस रूप में मैंने उसे देखा और पूछा—यह क्या कर रहे हो ?

उस साधु ने उत्तर दिया—'मैंने बारह वर्ष के लिए खड़े रहने का व्रत ले लिया है।

उसकी साधना कठोर है और वह शरीर को जो यातना दे रहा है, वह असाधारण है, उससे इन्कार नहीं किया जा सकता; परन्तु भगवान् महावीर की बात याद आ रही है कि—

अहो कष्टमहो कष्टं ! पुनस्तत्त्वं न ज्ञायते ।

कष्ट तो बहुत भयंकर है, किन्तु सत्य की प्राप्ति नहीं हो रही है। अपने जीवन को तो होम रहे हैं, किन्तु वह अलौकिक प्रकाश नहीं मिल रहा है जिसकी अपेक्षा है और जिसकी प्राप्ति के हेतु यह सब कुछ किया जा रहा है।

कोई-कोई सूखे पत्ते ही खाते हैं और कोई वे भी नहीं खाते। कोई हवा का ही आहार करते हैं। कोई कन्द, मूल और फल ही खाते हैं !

भगवान् महावीर के युग के साधकों का वर्णन आया है कि वे भोजन लाते और इक्कीस-इक्कीस बार उसको पानी से धोते। जब उसका कुछ ही नीरस भाग बाक़ी बच रहता, तब उसको ग्रहण करते थे !

ऐसे वर्णन भी आते हैं कि भिक्षा के पात्र में भिन्न-भिन्न कोष्टक बनवा लेते और गृहस्थ के घर जाते तो मन में सोच लेते कि

अमुक नंबर के खाने में आहार डाला जायगा तो पक्षियों को खिला दूँगा, अमुक में डाला हुआ अमुक को खिला दूंगा और अमुक खाने में डाला हुआ मैं खाऊंगा। इस प्रकार दो, तीन, चार दिन भी हो जाते और उसके निमित्त के खाने में आहार न पड़ पाता, दूसरे के निमित्त के खाने में ही आहार पड़ता चला जाता तो आप भूखे रह जाते और वह आहार उसी को खिला दिया जाता, जिसके निमित्त के खाने में वह पड़ता। इस प्रकार की कठोर साधनाएँ पिछले युग में होती थीं और क्वचित् आज भी होती हैं। इन साधनाओं से अकामनिर्जरा होती है, यह सत्य है, परन्तु परमतत्त्व की उपलब्धि इनसे नहीं होती, अतएव आध्यात्मिक दृष्टि से उनका मूल्य कुछ भी नहीं है।

और ऐसी कठोर साधनाओं की चरम सीमा यहीं तक नहीं है। इनसे भी भयानक साधनाएं की जाती हैं। चले जा रहे हैं, किसी की कोई चीज़ पड़ी हुई दीख गई और उसे उठा लिया; मगर उठाने के बाद ख़याल आया तो सोचा—बहुत गुनाह किया है कि चीज़ उठा ली। फिर सोचा—यह हाथ न होते तो कैसे उठाता? और यह पैर न होते तो कैसे उठाने जाता? इन हाथों और पैरों की बदौलत ही मैं पाप के कीचड़ में गिर गया—तो, इन्हें समाप्त ही क्यों न कर दूँ—न रहेगा बांस न बजेगी बांसुरी! और इस प्रकार सोच कर, जानते हैं आप, उन्होंने हाथों-पैरों को क्या सजा दी? उन्होंने अपने हाथ और पैर काट लिये।

और ऐसा भी वर्णन आता है कि कहीं चले जा रहे हैं और

किसी सुन्दर स्त्री पर दृष्टि पड़ गई तो विकार जाग उठा। विकार जाग उठा तो सोचा कि इन आंखों के कारण ही विकार जागा है। यदि आँखें न होती तो देखता ही नहीं और देखता ही नहीं तो विकार जागता भी नहीं ? तो उन्होंने लोहे की गर्म शलाकाएं लीं और आँखों में भौंक ली और अन्धे बन गये।

आज कल भी इस प्रकार के तपस्वी कहीं-कहीं पाये जाते हैं। एक सन्त थे, जिन्होंने दो-तीन वर्ष से अपने होठों को तार डाल कर सीं रक्खा था, जिससे बोल न सकें। मुंह खुला रहेगा तो बोल निकल जायगा। अर्थात् उन्हें अपने ऊपर भरोसा नहीं था तो मुंह को ही सीं लिया ! मुँह को ही सीं लिया तो खाना कैसे खाएं ? बस, छेदों में से आटे का पानी तुतई के द्वारा हलक के पार उतारा जाने लगा।

ये साधक महोदय जब गान्धी जी से मिले तो गान्धीजी ने पूछा—यह क्या कर रक्खा है। वह बहुत बड़ा विचारक था, किन्तु कभी-कभी बड़े-बड़े विचारक भी भ्रान्ति में पड़ जाते हैं। वह भी भ्रान्ति में पड़ गया था। उसने गान्धीजी को सूचित किया कि मैंने मौन ले रक्खा है और वह कहीं भंग न हो जाय, इस डर से मुंह सीं लिया है।

गान्धीजी ने उससे कहा-भले बाहर से न बोलो, किन्तु यदि अन्दर से बोलने की वृत्ति नहीं टूटी तो मुंह सीं लेने से क्या हुआ ? इसका अर्थ तो यह हुआ कि एक बुराई को—सम्भावित बुराई को मिटाने के लिए दूसरी भलाइयों को नष्ट कर दिया जाय ? मुँह

खुला होता तो, सम्भव है, कोई दुख में कराहता हुआ मिलता तो उसे दो शब्द बोलकर सान्त्वना तो दे देते, और सम्भव है, कोई अध्ययन करने के लिए आता और ज्ञान लेने के लिए आता तो उसका कुछ भला तो हो जाता ! मुंह सीं लेने से वह सब गया। और इससे यही तो हुआ कि मुंह से कोई ग़लत शब्द न निकल जाय ! इतनी-सी बात है, किन्तु मन से तो वह वृत्ति नहीं निकली है। मन से वह वृत्ति निकल गई होती तो मुंह सीने की आवश्यकता ही न रहती ! अब तो यह स्थिति है कि यह होठ भी सूज गये हैं। फिर भी मन कहाँ शान्त हैं ? तो आपने एक बुराई की सम्भावना को नष्ट करने के लिए कितनी ही अच्छाइयों को समाप्त कर दिया !

गान्धीजी की बात उसकी समझ में आ गई और उसने तार खोल दिये।

गान्धीजी ने फिर कहा-तुम्हें मौन रखना है तो अवश्य रक्खो, एक—दो दिन के लिए ही रक्खो । और यदि आत्मा पर भरोसा नहीं है, जानते हो कि हम चुप नहीं रह सकेंगे तो फिर मुँह सीं लेने पर भी कुछ लाभ नहीं है। बोलने की वृत्ति नष्ट न हुई तो क्या हुआ ?

तो जीवन के बड़े ही विचित्र रूप हैं। भगवान् महावीर और पार्श्वनाथ के युग में भी कैसे-कैसे कठोर साधक मौजूद थे। आगमों में उनका वर्णन पढ़ते हैं तो मालूम होता है कि वे शरीर को तो नष्ट करने पर ही तुल पड़े थे। उन्होंने फ़ैसला कर लिया था कि सारे पापों की जड़ तो यह शरीर ही है। इसको जल्दी से

जल्दी नष्ट कर डालने में ही आत्मा का कल्याण और जीवन का मंगल है। शरीर का खात्मा होते ही हमारे लिए ब्रह्मधाम का भव्य द्वार खुल जायगा, सारे बन्धन टूक-टूक हो जाएँगे और अनन्त आनन्द की प्राप्ति हो जाएगी।

उन्हें यह पता नहीं था कि जब तक मन की कुवृत्तियां समाप्त नहीं होतीं, तब तक शरीर को अगर आग में भी झौंक दिया जाय, तब भी कोई लाभ होने वाला नहीं। ऐसा करने से पुराना शरीर छूट जायगा तो फिर नया शरीर मिलेगा ? शरीर की आत्यन्तिक समाप्ति होने वाली नहीं, क्योंकि जब तक कारण नष्ट नहीं होता, तब तक तज्जन्य कार्य भी नहीं रुक सकता। आग जल रही है और उसमें हाथ डाल दिया जाय और वह न जले, यह कैसे सम्भव हो सकता है ? इसी प्रकार शरीर को जन्म देने वाली तो वृत्तियां हैं—राग-द्वेष की परिणतियां हैं, क्रोध, मान, माया और लोभ रूप विकार हैं, जब तक इनका विनाश नहीं हो जाता तब तक एक के बाद बराबर दूसरा शरीर धारण करना पड़ता है। इस आत्मा ने अनन्त—अनन्त शरीर लिए हैं और छोड़े हैं। यदि शरीर को छोड़ देने मात्र से ही कल्याण हो जाता हो, तब तो संसार के प्रत्येक प्राणी का कल्याण न हो गया होता ?

इसी दृष्टिकोण को सामने रख कर भगवान् महावीर ने इन तपों को बालतप कहा है और अज्ञानजनित कायकष्ट कहा है। इसके पीछे कोरे कष्ट की साधना के सिवाय और कुछ नहीं है ! जब इतनी बड़ी-बड़ी साधनाओं को, केवल कष्ट के रूप में, बाल-

तप या अज्ञानतप कहा है, तो मैं समझता हूँ कि उनका निर्णय स्पष्ट निर्णय है। उनका निर्णय संसार के लोगों के लिए आँखों को खोल देने वाला निर्णय है।

आँखों के द्वारा विकार उत्पन्न होता है तो मन पर नियन्त्रण करो, आँखों को फोड़ देने से कुछ नहीं होगा ! चोरी की है हाथों ने तो उनको ही काट देने से कोई लाभ नहीं होगा। किसी को मारने दौड़े या किसी की चीज़ उठाने दौड़े और पश्चात्ताप आया और पैरों पर कुल्हाड़ा मार लिया तो इससे आत्मा पवित्र नहीं हो जायगी !

हाथ और पैर बहुमूल्य चीजें हैं। जहाँ दूसरों को दुःख देने के लिए इनका प्रयोग किया जा सकता है, इनके द्वारा दूसरे को नदी में धक्का दिया जा सकता है, वहां नदी में से किसी डूबते हुए को निकाल लेने में भी तो उपयोग किया जा सकता है। ये तो हमारे साधन हैं। यदि इन साधनों का विवेक-पूर्वक उपयोग किया जाए तो कल्याण ही होगा। अतएव शरीर को या उसके किसी अवयव को नष्ट नहीं करना है, किन्तु स्वपर-कल्याण के लिए उसका सदुपयोग करना है। एक बहुत बड़े विद्वान ने कहा है—

शरीरमाद्यं खलु धर्मसाधनम् ।

—कालिदास

शरीर धर्मसाधना का केन्द्र है। जब तक आप इस शरीर में हैं, तभी तक साधुत्व है और तभी तक श्रावकत्व है। और जब तक इस शरीर में हैं, तभी तक संवर और पौषध वगैरह हैं।

इस शरीर को छोड़ जाने के बाद अगले भव में जन्म लेते ही क्या साधु या श्रावक की साधना हो सकती है ? नहीं। अतएव आपको यह जो शरीर मिल गया है तो इसका ठीक-ठीक उपयोग करना ही विवेकशीलता है। हम इसे वासनाओं की ओर न जाने दें, अन्धेरी गली में न भटकने दें।

इस शरीर को हमें साधना के द्वारा तपाना तो है, और यह नहीं कि इसे दूध-मलाई खिलाते रहें और इतना फुला लें कि मरें तो चार आदमियों के बदले आठ आदमी लगें। यह जैन-धर्म का सिद्धान्त नहीं है। भगवान ने स्पष्ट रूप से यह भी कह दिया है—

आयावयाही, चय सोगमल्लं, कामे कमाही कमियं खु दुक्खं।
छिंदाहि दोसं विणएज्ज रागं, एवं सुही होहिसि सम्पराए॥

—दशवैकालिक सूत्र,

अरे साधक ! तू शरीर को तपा और सुकुमारता को छोड़। साथ ही अपनी कामनाओं पर विजय प्राप्त कर। तू द्वेषवृत्ति को छेद डाल और राग भाव को भी दूर कर दे। बस, यही सुखी होने का सर्वोत्तम मार्ग है।

कितना स्पष्ट और सुन्दर निर्देश है। शरीर को तपाना तो है, मगर शरीर को तपाने के लिए ही नहीं तपाना है। तन को तपाने के साथ-साथ मन की कामनाओं को भी नष्ट करना है, राग और द्वेष को भी नष्ट करना है। तन को भी साधना है और मन को भी साधना है। मन को तपाने के लिए ही तन को तपाने

की ज़रूरत है।

तो शरीर को नष्ट कर देना जैन-धर्म का सिद्धान्त नहीं है; किन्तु यह सिद्धान्त है कि आत्मा के कल्याण के लिए और जन-कल्याण के लिए इस शरीर को साधना है, तयार रखना है।

जब तक यह शरीर है, तब तक ही दया, करुणा, दान आदि पुनीत सद्गुणों की बड़ी-बड़ी फ़सलें तैयार हो सकती हैं, जिनके फल इस जन्म में भी और जन्मान्तर में भी प्राप्त किए जा सकते हैं। अतएव तपश्चरण के द्वारा और साधना के द्वारा उसे तपाया अवश्य जाय, किन्तु बर्बाद न किया जाय।

घी में छाछ है। उसे शुद्ध करने के लिए तपाना पड़ता है। और जब घी को तपाना होता है तो उसे आग में नहीं डाला जाता, उसके लिए पात्र चाहिए। घी के पात्र को आग पर रख दिया जाता है और मध्यम आँच से उसे तपाया जाता है। पात्र को तपाने का प्रयोजन घी को शुद्ध करना है, पात्र को नष्ट करना नहीं है और घी को भी नष्ट कर देना नहीं है। तो पात्र को गर्मी पहुँचाई जाती है, किन्तु इतनी मात्रा में ही कि घी पिघल जाय और छाछ और घी अलग-अलग हो जाएँ।

जो बात इस उदाहरण से समझ में आती है, वही बात जैन-धर्म शरीर को तपाने के विषय में कहता है। जैनधर्म में काय-क्लेश को तप माना गया है, परन्तु उसका उद्देश्य और आशय यही है। शरीर को घी के पात्र की तरह तपाना है. इस शरीर से तपश्चर्या करनी है और साधना करनी है और इसी में शरीर

की सार्थकता है। किन्तु इसका आशय शरीर को झुलसा देना नहीं और आत्मा को भी उत्पीड़ित करना नहीं है। आत्मा में जो विकार आ गये हैं, वासनाएं आगई हैं, उन्हें शरीर को तपा कर दूर करना है। पर ऐसा नहीं कि घी को शुद्ध करने के लिए पात्र को ही जलाकर नष्ट कर दिया जाय।

इस प्रकार जैनधर्म की कुछ मर्यादाएँ हैं, किन्तु दुर्भाग्य से आज हम उन मर्यादाओं को समझने का प्रयत्न नहीं करते। हम उस महान् चिन्तन को भूल गये हैं। दूसरे लोगों की तरह हम भी शरीर पर पिल पड़ते हैं और समझ लेते हैं कि शरीर को खत्म कर देने से ही आत्मा पवित्र हो जायगी; किन्तु हमें समझना चाहिए कि जैनधर्म शरीर का खात्मा करने को हिमायत नहीं करता, वह कहता है कि धर्म की साधना इसी शरीर के द्वारा होगी और कल्याण का रास्ता इसी शरीर के द्वारा तय किया जायगा। तो आवश्यकता पड़ने पर इसे तपाना भी है और कष्ट भी देना है, किन्तु इतना ही तपाना और कष्ट देना है, जितना आवश्यक हो। जहाँ केवल कष्ट देने का ही मतलब है, वहां बाल-तप है, अज्ञानतप है।

इस सिद्धान्त पर ध्यान देते हैं तो एक महत्त्वपूर्ण बात सामने आ जाती है। वह यह कि यदि यही शरीर किसी विवेकशील साधक को मिलता है तो वह कल्याण कर लेता है और यही शरीर यदि विवेक-शून्य को मिलता है तो वह नरक और तिर्यञ्च गति की राह तलाश कर लेता है। मगर इसमें बेचारे शरीर का

क्या दोष है ? यह तो उसका उपयोग करने वाले का दोष है। किसी के पास रुपया आया। उसने उस रुपये से खरीद कर दूध पिया और दूसरे ने मदिरापान कर लिया ! अब वह कहता है कि यह रुपया बड़ा पापमय है, इसने मुझे शराब पिला दी है ! तो उसका कहना क्या आपको ठीक लगेगा ? आप कहेंगे-इसमें रुपया बेचारा क्या करे ? उसका क्या दोष है ? दोष तो उसी का है जिसने रुपये का दुरुपयोग किया है। तो बस, यही बात शरीर के विषय में है।

जो मनुष्य इस शरीर के द्वारा वासनाओं में भटकता है और शरीर की शक्ति को उसी में खर्च करता है, उससे जैन-धर्म कहता है कि तू ग़लत काम कर रहा है। शरीर विषय-वासनाओं के लिए नहीं है, शृंगार के लिए नहीं है। अपने और दूसरे के चित्त में वासना की आग जलाने के लिए नहीं है। हम संसार में मनुष्य के रूप में आये हैं तो कुछ महत्त्वपूर्ण काम करने के लिए आये हैं। उस काम में हमारा यह शरीर महत्त्वपूर्ण योग दे सकता है। इस प्रकार यह शरीर बर्बाद करने के लिए नहीं, अपितु काम करने के लिए, साधना करने के लिए और स्व-पर कल्याण करने के लिए है।

इस प्रकार हम सावधान होकर, गहरी और पैनी नज़र से देखें तो मालूम होगा कि शरीर अपने आप में ग़लत नहीं है, ग़लत हैं उसका दुरुपयोग करने वाले। जब उपयोग करने वाले ग़लत होते हैं तो शरीर भी ग़लत काम करता है, इन्द्रियां भी ग़लत

राह पर दौड़ती हैं और मन भी ग़लत रास्ते पर चलता है। किन्तु साधक जब विवेकशील होता है तो वह अपने शरीर, इन्द्रिय और मन को—अपने सभी साधनों को ठीक तरह से काम में लगाता है और उन्हें आत्म कल्याण में सहायक बना लेता है। एक सन्त ने कहा है—

येनैव देहेन विवेकहीनाः, संसारबीजं परिपोषयन्ति।
तेनैव देहेन विवेकभाजः, संसारबीजं परिशोषयन्ति॥

—अध्यात्म तत्वालोक

विवेक-शून्य व्यक्ति जिस शरीर के द्वारा जन्म-मरण के बीज को पोषता है और संसार-विष-वृक्ष को पल्लवित करता है—उसी शरीर के द्वारा ज्ञानी, विवेकशील और विचारवान् साधक जन्म-मरण के बीज को सुखा देता है और संसार-विषवृक्ष को नष्ट कर देता है।

भगवान् महावीर की विराट साधना का साधन-केन्द्र यह शरीर ही रहा है और भगवान् पार्श्वनाथ, मर्यादापुरुषोत्तम राम भी इसी मानव-शरीर को धारण करके ही संसार में चमके। किन्तु इसी शरीर में रहते हुए रावण और दूसरों ने नरक की राह पकड़ी। इसमें दोष शरीर का नहीं, उपयोग करने वाले का है।

इस रूप में जैन-धर्म की साधना का केन्द्र शरीर और आत्मा दोनों है। जैनधर्म यह नहीं कहता कि आत्मा की पूजा की धुन में शरीर को ही नष्ट कर दो या शरीर की पूजा के लिए आत्मा को ही

भुला दो। दोनों ओर जब अति होती है तो साधक अपने पथ से भ्रष्ट होता हुआ दिखाई देता है। वह स्वयं ग़लत राह पर चल पड़ता है और दूसरों को भी वही ग़लत राह दिखलाता है। वह स्वयं गिरता है और दूसरों को भी गिराता है।

आज हमारे अन्दर इस सम्बन्ध में अनेक ग़लत फ़हमियां हैं और यही कारण है कि हम अपनी साधना को सही रूप नहीं दे पाते हैं। इससे हमारा अपना भी यथोचित कल्याण नहीं होता और जन-समाज में भी तपश्चरण की महत्ता कम हो जाती है।

ब्रह्मचर्य एक ऐसी साधना है, जिससे शरीर भी शक्तिशाली बनता है और आत्मा भी शक्तिमान् बनती है। वह बाह्य जगत् में हमारे शरीर को भी ठीक रखता है और अन्तरंग जगत् में हमारे मन को और हमारे विचारों को भी पवित्र बनाता है।

मनुष्य को बचपन में शरीर मिला और आगे उसने प्रगति की, तो जब तक वासनाएँ नहीं पैदा हुई, वह ठीक-ठीक विकास करता गया। किन्तु वासनाओं और विकारों के उत्पन्न होने पर उसका विकास रुक जाता है। यही नहीं, बल्कि ह्रास भी होना शुरू हो जाता है।

मनुष्य का शरीर तो इतना महान् है कि इससे सोने की खेती हो सकती है, हीरे और जवाहरात की खेती हो सकती है, किन्तु दुर्भाग्य से, समय आने पर, इसमें एक प्रकार की आग भी सुलगने लग जाती है। अगर मनुष्य उस आग पर क़ाबू पाने के लिए प्रयत्न नहीं करता—अपितु उसे और हवाएं देने लगता है

और संसार की वासना के चक्र में पड़ जाता है, तो उसके शरीर का तेज और ओज झुलस-झुलस कर नष्ट हो जाता है। उसे अकाल में ही बुढ़ापा घेर लेता है। हज़ारों बीमारियाँ उस शरीर में अड्डा जमा लेती हैं। फिर वह शरीर न भोग के योग्य रह जाता है, न योग के योग्य ही रह जाता है। जिसने कच्ची उम्र में भोग के द्वारा, शरीर को नष्ट कर दिया है, वह आगे न भोग के योग्य रह जाता है और न त्याग के योग्य ही रहता है। जिस भोग के लिए उसने शरीर को जला दिया है, उस भोग की पूर्ति भी उससे नहीं होती।

तो संसार के क्षेत्र में जब जीवन को लेकर आगे बढ़ो, जब विचार करो कि मैं आगे बढ़ूंगा, उस समय अगर संसार की हवाएँ लगने दोगे, और वासना की चिनगारियाँ सुलगा लोगे तो जीवन झुलस जायगा और आगे बढ़ने के मंसूबे जल कर ख़ाक बन जाएँगे। अतएव मनुष्य का यह पवित्र कर्त्तव्य है कि वह एक-एक क़दम फूँक-फूँक कर रक्खे और इस बात को समझे कि एक बार भी ग़लत क़दम पड़ गया तो फिर जीवन में सँभलना और उसे बचा लेना मुश्किल हो जायगा। और जो ऊपर के अभिभावक हैं, परिवार वाले, माता-पिता या गुरुजन हैं और जिनके संरक्षण में वह है, वे भी ध्यान रक्खें कि बालक के अन्दर बुरे संस्कार तो नहीं पड़ रहे हैं! बुरे विचारों के अंकुर तो नहीं जम रहे हैं और ऐसा तो नहीं है कि बालक विकारों की आग की ओर जा रहा है। अगर जायगा तो शरीर सूखे काठ के रूप में

परिवर्तित हो जायगा और फिर सूखा काठ तो जलने के ही लिए होता है !

तो इस रूप में ब्रह्मचर्य शरीर में खाद के रूप में है। जिस खेत में खेती करनी होती है, किसान उसमें खाद देता है और जितना अच्छा खाद देता है, उतनी ही सुन्दर खेती होती है। पर्याप्त और उपयोगी खाद देने पर खेती का विशाल साम्राज्य खड़ा हो जाता है। अगर ठीक समय पर खाद न दिया गया तो कितनी ही खेती क्यों न बो लो, वह लहलहाती हुई नजर नहीं आएगी। यह तथ्य हमारे सामने सदा रहना चाहिए।

मुझे एक विचारक मिले। वे रूस की यात्रा करके आए थे। उन्होंने बतलाया कि भारत में, एक एकड़ भूमि में, पाँच मन भी अनाज पूरी तरह पैदा नहीं होता, जब कि रूस में, एक एकड़ में, ५०–६०–१०० मन अनाज पैदा हो रहा है ! ऐसी स्थिति में, यहाँ की बढ़ती हुई जन-संख्या को देख कर यह सोचना पड़ता है कि इतने प्राणियों के लिए अनाज कहाँ से आएगा ?

इस दृष्टि से हमारे नेताओं के समक्ष एक विकट समस्या उपस्थित हो गई है। अगर समुचित व्यवस्था न की गई तो क्या परिस्थिति उपस्थित हो जायगी ? आस-पास की सीमाओं पर तो लोगों ने गज उठा लिए हैं और वे अपने कर्त्तव्य को नाप रहे हैं। मगर भारत के सामने प्रश्न ज्यों-का-त्यों खड़ा है। जन-संख्या तेजी से बढ़ रही है, खाने-पीने का प्रश्न विकट होता जा रहा है और जनता में बड़ी अजीब-अजीब बातें हो रही हैं।

कई लोग समस्या का हल पेश करते हैं—सन्तति नियमन होना चाहिए। जहाँ तक सन्तति-नियमन का सवाल है, कोई विचारक उससे असहमत नहीं हो सकता। पर जब लोग कृत्रिम साधनों से, वैज्ञानिक साधनों का प्रयोग करके, नियंत्रण की बात कहते हैं तो हम सोचते हैं कि यह क्या चीज है? क्या मनुष्य विकारों और वासनाओं से इतना दब गया है कि ऊपर उठ नहीं सकता?

हमारे पास ब्रह्मचर्य का सुन्दर साधन मौजूद है और वह दूसरे उपायों से सुन्दर है, तो फिर क्यों नहीं उसकी हिमायत की जाती? उससे सन्तति का प्रश्न भी हल होता है और सन्तति के जनक और जननी का भी प्रश्न हल होता है। वैज्ञानिक साधनों का प्रयोग करने का अर्थ यह है कि मनुष्य खुल कर खेले और अपने जीवन को भोग की आग में होम दे! और उस हालत में सन्तति-नियंत्रण का अर्थ होता है अपने आप पर अनियंत्रण! अभिप्राय यह है कि यदि ठीक रूप में और ठीक समय पर इस शरीर को ब्रह्मचर्य का खाद मिलता है, और ब्रह्मचर्य का संकल्प जाग जाता है, तो जीवन की सुन्दर और हरीभरी खेती उसमें लहलहाने लगती है। और यदि दुर्भाग्य से ऐसा न हुआ तो क्षय की बीमारी आ घेरती है और कहते हैं कि क्षय की बीमारी से हड्डियाँ गल जाती हैं।

एक नौजवान मिले। देखने में शरीर से ठीक थे, किन्तु हताश और निराश! उन्होंने कहा—मेरी हड्डियाँ इतनी कमजोर हैं कि

यह खिरती रहती हैं ! और उस नौजवान के इन शब्दों को ध्यान में रखकर मैंने सोचा—यह इसके माता-पिता की भूल है—वे अपने जीवन को नियंत्रण में नहीं रख सके और उसका कुपरिणाम इस प्रकार उनकी सन्तति को भोगना पड़ता है।

हम शिमला गये। रास्ते में एक गाँव मिला–धर्मपुरा। वहाँ क्षय रोग का एक अस्पताल है। उस अस्पताल में इधर के ही एक भाई बीमार पड़े थे और ख़बर आई कि वे दर्शन करना चाहते हैं। हम वहाँ गये तो देखा कि सैकड़ों-हज़ारों आदमी वहां मौजूद हैं। विविध प्रकार की टी० बी० के शिकार ! मालूम हुआ कि कोई-कोई चार-पाँच वर्ष से वहाँ पड़े हैं। इस प्रकार उधर घर बर्बाद हो रहा है और इधर वे मौत की घड़ियाँ गिन रहे हैं।

एक भाई ने बतलाया—यहाँ तो ठीक हो जाता हूँ, किन्तु घर पहुँच कर फिर बीमार हो जाता हूँ। बस, यहाँ और वहाँ भटकने में ही ज़िन्दगी कट रही है।

बात यह है कि अस्पताल में रह कर शरीर कुछ ठीक बना तो घर गये। और वहाँ जीवन में संयम नहीं रहा, बुरी आदतों के शिकार हो गए। अस्पताल में जो तैयारी हुई थी, वह घर में बर्बाद हो गई, शरीर फिर गलने लगा और फिर धर्मपुरा पहुँचे।

मैंने सोचा—यह हमारे देश के नौजवान हैं। इनकी उठती हुई ज़िन्दगियाँ क्या धर्मपुरा और घंर की ही दौड़ लगाने को हैं ? इसी दौड़ में इनका जीवन समाप्त होने को है ?

इसीलिए जैन-धर्म ने और दूसरे धर्मों ने भी बड़ी ही महत्त्व-

पूर्ण बात कही है कि इस शरीर को साधारण मत समझो। इस शरीर को भोग की आग में मत झौंको और न अन्ध-तपस्या की ही आग में झुलसाओ। जो तपस्या सीमा से बढ़कर है और जो शरीर को मारने के ही उद्देश्य से की जाती है, शरीर को बर्बाद करना ही जिसका प्रयोजन है, वह तपस्या अन्ध-तपस्या है। जो अति का मार्ग है, वह धर्म का मार्ग नहीं है। अति भोग भी शरीर को गला देता है और अति-तपस्या भी शरीर को नष्ट कर देती है। अतएव शरीर को गला देने वाली कोई भी प्रवृत्ति साधक के लक्ष्य की पूर्ति नहीं कर पाती। ऐसी तपस्या का भी जैन-धर्म की दृष्टि में कोई महत्त्व नहीं है।

ऐसी राह पर चलो कि शरीर को इतना शक्तिशाली बना सको कि समय पर दुःखों और कष्टों को सहन किया जा सके, दुनिया भर के कष्ट आ पड़ने पर भी शरीर कार्यक्षम बना रह सके, और साथ ही आत्मा भी इतनी बलवान् रहे कि वह वासनाओं के कांटों में न उलझे। भोग में न गले।

आशय यह है कि शरीर का केन्द्र मजबूत रहेगा तो आत्मा भी अपनी साधना में दृढता के साथ तत्पर रह सकेगी। अतएव शरीर को मार कर आत्मा के कल्याण की बात न सोचो और न आत्मा को मार कर शरीर को सुकुमार बनाओ।

इस रूप में बुद्ध की एक बात याद आ जाती है। एक साधक आये और साधना की बात करने लगे तो बुद्ध ने कहा—जीवन के लिए मेरी कुछ मर्यादाएँ हैं और वे मर्यादाएँ न अत्यन्त भोग की हैं और

न अत्यन्त त्याग की ही। उन्होंने रूपक की भाषा में कहा—वीणा तारों का वाद्य है—उसके तारों में ही स्वर उत्पन्न होता है। उस वीणा के तारों को यदि बिल्कुल ही तान दिया जाय और इतना तान दिया जाय कि उनमें ज़रा-सी भी लचक न रहे, तो वीणा बज नहीं सकती। लचक नहीं रही है तो वह बज भी नहीं रही है। और यदि उसके तारों को एकदम ढीला छोड़ दिया जाय तो भी वीणा बज नहीं सकती है। उसमें से कोई स्वर नहीं निकलेगा। तो अगर वीणा को ठीक तरह बजाना है तो तारों को कसना भी पड़ेगा और कसने के साथ उनमें लचक भी छोड़नी पड़ेगी। और इस मध्य स्थिति में जब तारों को छोड़ा जाता है तो वीणा बजती है, उसमें से रागिनी प्रस्फुटित होती है।

तो बुद्ध ने कहा—जीवन का यही आदर्श है कि साधना के द्वारा अपने मन के, इन्द्रियों के और शरीर के तारों को जब कसा जाय तो इतना ही कसा जाय कि उनमें लचक बाकी रह जाय। लचक बनी रहेगी तो जीवन के तार बज सकेंगे और धर्म की रागिनी पैदा हो सकेगी।

अगर जीवन को सर्वथा खुला छोड़ दिया गया या इन्द्रियों और मन को एकदम ढीला छोड़ दिया गया तो जीवन की रागिनी नहीं बजेगी। रावण ने इन्हें खुला छोड़ दिया था तो वह सोलह हज़ार रानियाँ होने पर भी सीता को चुराने गया और कहीं का न रहा।

दौड़ लगा रहे हो तो दौड़ सकते हो, पर कहीं रुकने की जगह भी तो बना लो। क्या बिना कहीं रुके दौड़ते ही चले जाओगे ?

पूरी की पूरी ज़िन्दगी दौड़ में ही समाप्त कर देना चाहते हो ?

इस रूप में ब्रह्मचर्य गृहस्थ जीवन में भी आनन्द धारण कर रहा है, अपनी पत्नी के अलावा संसार भर की स्त्रियों के साथ माता और बहिन का पवित्र सम्बन्ध क़ायम कर रहा है और जीवन के तारों को कुछ खींच लिया गया है और कुछ ढीला भी रख छोड़ा गया है, ऐसा करने पर गृहस्थ धर्म की मधुर रागिनी निकलती है।

वास्तव में ब्रह्मचर्य मनुष्य जीवन के लिए महत्वपूर्ण वस्तु है और जीवन की सुन्दर खुराक है। यदि उसका यथोचित उपयोग न किया गया तो जीवन भोगों में गल जायगा। आजकल जहाँ-तहाँ रोग-ग्रस्त शरीर दिखलाई देते हैं और घर घर में बीमारों के बिस्तर लग रहे हैं, उसका एक प्रधान कारण शरीर का मज़बूत न होना है और शरीर के मज़बूत न होने का कारण ब्रह्मचर्य का पालन न करना है। भारत के इतिहास में ब्रह्मचर्य के जो उज्ज्वल और शानदार उदाहरण आये हैं, वे आज दिखलाई नहीं दे रहे हैं।

कहां है आज भारतीय तरुणों के चेहरे पर वह चमक ? कहाँ गई वह भाल पर उद्भासित होने वाली आभा ? कहां गायब हो गई नेत्रों की वह ज्योति ? कहाँ चली गई ललाट की वह ओजस्विता ? सभी कुछ तो वासना की आग में जल कर राख बन गया। आज नैसर्गिक सौन्दर्य के स्थान पर पाउडर और लैवेंडर आदि के द्वारा सुन्दरता पैदा करने का प्रयत्न किया जाता

न अत्यन्त त्याग की ही। उन्होंने रूपक की भाषा में कहा—वीणा तारों का वाद्य है—उसके तारों में ही स्वर उत्पन्न होता है। उस वीणा के तारों को यदि बिल्कुल ही तान दिया जाय और इतना तान दिया जाय कि उनमें ज़रा-सी भी लचक न रहे, तो वीणा बज नहीं सकती। लचक नहीं रही है तो वह बज भी नहीं रही है। और यदि उसके तारों को एकदम ढीला छोड़ दिया जाय तो भी वीणा बज नहीं सकती है। उसमें से कोई स्वर नहीं निकलेगा। तो अगर वीणा को ठीक तरह बजाना है तो तारों को कसना भी पड़ेगा और कसने के साथ उनमें लचक भी छोड़नी पड़ेगी। और इस मध्य स्थिति में जब तारों को छोड़ा जाता है तो वीणा बजती है, उसमें से रागिनी प्रस्फुटित होती है।

तो बुद्ध ने कहा—जीवन का यही आदर्श है कि साधना के द्वारा अपने मन के, इन्द्रियों के और शरीर के तारों को जब कसा जाय तो इतना ही कसा जाय कि उनमें लचक बाकी रह जाय। लचक बनी रहेगी तो जीवन के तार बज सकेंगे और धर्म की रागिनी पैदा हो सकेगी।

अगर जीवन को सर्वथा खुला छोड़ दिया गया या इन्द्रियों और मन को एकदम ढीला छोड़ दिया गया तो जीवन की रागिनी नहीं बजेगी। रावण ने इन्हें खुला छोड़ दिया था तो वह सोलह हज़ार रानियाँ होने पर भी सीता को चुराने गया और कहीं का न रहा।

दौड़ लगा रहे हो तो दौड़ सकते हो, पर कहीं रुकने की जगह भी तो बना लो। क्या बिना कहीं रुके दौड़ते ही चले जाओगे?

पूरी की पूरी ज़िन्दगी दौड़ में ही समाप्त कर देना चाहते हो ?

इस रूप में ब्रह्मचर्य गृहस्थ जीवन में भी आनन्द धारण कर रहा है, अपनी पत्नी के अलावा संसार भर की स्त्रियों के साथ माता और बहिन का पवित्र सम्बन्ध क़ायम कर रहा है और जीवन के तारों को कुछ खींच लिया गया है और कुछ ढीला भी रख छोड़ा गया है, ऐसा करने पर गृहस्थ धर्म की मधुर रागिनी निकलती है।

वास्तव में ब्रह्मचर्य मनुष्य जीवन के लिए महत्वपूर्ण वस्तु है और जीवन की सुन्दर खुराक है। यदि उसका यथोचित उपयोग न किया गया तो जीवन भोगों में गल जायगा। आजकल जहाँ-तहाँ रोग-ग्रस्त शरीर दिखलाई देते हैं और घर घर में बीमारों के बिस्तर लग रहे हैं, उसका एक प्रधान कारण शरीर का मज़बूत न होना है और शरीर के मज़बूत न होने का कारण ब्रह्मचर्य का पालन न करना है। भारत के इतिहास में ब्रह्मचर्य के जो उज्ज्वल और शानदार उदाहरण आये हैं, वे आज दिखलाई नहीं दे रहे हैं।

कहां है आज भारतीय तरुणों के चेहरे पर वह चमक ? कहाँ गई वह भाल पर उद्भासित होने वाली आभा ? कहां ग़ायब हो गई नेत्रों की वह ज्योति ? कहाँ चली गई ललाट की वह ओजस्विता ? सभी कुछ तो वासना की आग में जल कर राख बन गया। आज नैसर्गिक सौन्दर्य के स्थान पर पाउडर और लैवेंडर आदि के द्वारा सुन्दरता पैदा करने का प्रयत्न किया जाता

है, पर मुर्दे का शृंगार क्या उसकी शोभा बढ़ाने में समर्थ हो सकता है ?

ऊपर से पैदा की हुई सुन्दरता जीवन की सुन्दरता नहीं है। ऐसी कृत्रिम सुन्दरता का प्रदर्शन करके आप दूसरों को भ्रम में नहीं डाल सकते। अधिक से अधिक यह हो सकता है कि आप स्वयं भ्रम में पड़ जाएं। कुछ भी हो, यह निश्चित है कि उससे कुछ बनने वाला नहीं है।

एक वृक्ष सूख रहा है, उसके भीतर जीवन रस नहीं रहा है—तब कोई भी रंगरेज़ या चित्रकार उसमें वसन्त लाना चाहेगा तो रंग पोत कर वसन्त नहीं ला सकेगा। उसके निष्प्राण सूखे पत्तों पर रंग पोत देने से वसन्त नहीं आने का। वसन्त तो तब आयगा, जब जीवन में हरियाली होगी। उस समय एक भी पत्ते पर रंग लगाने की आवश्यकता नहीं होगी। वह हरा-भरा वृक्ष अपने आप ही अपनी सजीवता के लक्षण प्रकट कर देगा।

इसी प्रकार रंग पोत लेने से जीवन में वसन्त का आगमन नहीं हो सकता। वसन्त तो जीवन-सत्ता के मूलाधार से प्रस्फुटित होता है।

तो जीवन में असली रंग ब्रह्मचर्य का है, किन्तु वह नष्ट हो रहा है और देश के हज़ारों नौजवान, जवानी का दिखावा करने के लिए अपने चेहरे पर रंग पोतने लगे हैं। तो रंग पोतने से क्या होता है ? चेहरे पर चमक और दमक लानी है, ओज और तेज लाना है, जीवन को सत्त्वमय बनाना है, क्षमताशाली बनाना

है और मन को सशक्त बनाना है; जीवन को सफल और कृतार्थ करना है तो ब्रह्मचर्य की उपासना करो। ब्रह्मचर्य की उपासना से ही इस जन्म में और जन्मान्तर में आपका कल्याण होगा।

ब्यावर
७-११-५०

ज्योतिर्मय जीवन का जनक !

मनुष्य को जो जीवन मिला है और यह जो इतना सुन्दर शरीर मिला है, सो इसका उद्देश्य क्या है ? यदि इसका उद्देश्य केवल भोगों में लिप्त रहना है और संसार को वासनाओं में रच-पच कर जीवन को समाप्त कर देना है, तो फिर मनुष्यत्व की विशेषता क्या है ? फिर मानव जीवन की महत्ता और महिमा के गीत क्यों गाये गये हैं ? सांसारिक वासनाओं की पूर्ति तो पशु-पक्षी भी किया करते हैं। देवयोनि में भी यह वासनाएँ चला करती हैं। संसार में हर जगह वासना के साधन मिलते रहते हैं।

किन्तु मनुष्य का जीवन इस वासना की पूर्ति के लिए नहीं है। यदि कोई मनुष्य, वासनापूर्ति में ही अपने जीवन को व्यय करता है, तो उसके लिए हमारे आचार्यों ने कहा है कि वह मूढ़ है।

किसी को चिन्तामणि रत्न मिल गया। वह उसके द्वारा अपनी सब इच्छाएँ पूरी कर सकता है, परन्तु ऐसा न करके अगर वह उससे शाक-भाजी खरीदता है या गाजर-मूली खरीदता है, और इस प्रकार चिन्तामणि रत्न को गाजर-मूली के बदले में दे देता है, तो क्या उसे मूढ़ नहीं कहा जायगा? क्या उसने चिन्तामणि की प्रतिष्ठा की है? गाजर-मूली खरीदना चिन्तामणि रत्न का काम नहीं है।

तो मानव-जीवन भी चिन्तामणि रत्न के समान है। मानव-जीवन के द्वारा लौकिक और लोकोत्तर सभी सिद्धियां प्राप्त की जा सकती हैं। हम जितना ऊँचा उठना चाहें, उठ सकते हैं। इस जीवन के द्वारा हम सभी लौकिक सुख और समृद्धियाँ भी प्राप्त कर सकते हैं और आध्यात्मिक जीवन की समस्त ऊँचाइयाँ भी। इस जीवन को हम ऐसा शानदार जीवन बना सकते हैं कि हमें यहां भी आनन्द है और जन्मान्तर में भी आनन्द! ऐसे महान् जीवन को जो विषय वासना में खर्च कर देते हैं, उनके लिए आचार्य कहते हैं कि वे उसी कोटि के मनुष्य हैं, जो गाजर-मूली के लिए चिन्तामणि रत्न को दे डालते हैं। जिस प्रकार चिन्तामणि देकर गाजर-मूली लेना और उनसे पेट भर लेना बुद्धिमत्ता नहीं है, उसी प्रकार मनुष्य का जीवन पाकर विषय-वासना में लिप्त रहना भी बुद्धिमत्ता नहीं है।

मनुष्य का यह महान् जीवन ब्रह्मचर्य की आधारशिला पर टिका हुआ है। ब्रह्मचर्य ही शरीर को सशक्त और जीवन को

शक्ति-सम्पन्न करता है। सबल जीवन वाला मनुष्य गृहस्थजीवन में भी मज़बूत बन कर अपनी यात्रा सफलतापूर्वक सम्पन्न कर सकता है; और यदि वह साधु जीवन प्राप्त करेगा तो उसको भी श्रेष्ठ बनाएगा। उसे जहाँ भी खड़ा कर दोगे, उसमें से शक्ति का झरना बहेगा और उसे जो भी कर्त्तव्य सौंप दोगे, वह अपने प्राणों को छोड़ने के लिए भले तैयार रहे, मगर कर्त्तव्य को नहीं छोड़ेगा। अपनी 'ड्यूटी' से नहीं भटकेगा।

विचारों में बल ब्रह्मचर्य के द्वारा ही आता है। एक मन ऐसा होता है कि जिसमें गंदे विचार उठा करते हैं। वह मन रात-दिन वासना की गन्दगी में भटका करता है। तो उसमें से सुगन्ध आएगी या दुर्गन्ध आएगी? वह मन जहाँ भी रहेगा, गन्दगी ही पैदा करेगा। परिवार में भी गन्दगी पैदा करेगा और समाज में भी गन्दगी पैदा करेगा। निर्बल तथा दूषित मन की दुर्गन्ध बाहर जरूर आएगी।

शुद्ध साधना का सिंहद्वार ब्रह्मचर्य है। ब्रह्मचर्य के द्वारा ही मन में पवित्रता आती है। मन जितना ही पवित्र होगा, स्वच्छ और साफ़ होगा, उतना ही सोचने का ढंग भी साफ़ होगा और कर्त्तव्य को अदा करने की प्रेरणा भी उतनी ही बलवती होगी। वह जीवन संसार में भी महान् होगा और आध्यात्मिक क्षेत्र में भी महान् बनेगा। यदि ऐसा न हुआ और मन में दुर्विचार भरे रहें तो वह कुत्ते की भाँति भटक कर समाप्त हो जायगा।

एक बात हमें ध्यान में रखनी चाहिए। जीवन में जो विचार

बह रहे हैं, वे बाहर से नहीं आये हैं। वे तो अन्दर में ही पैदा हुए हैं। और जब अन्दर में—मन में, पैदा हुये हैं तो बाहर फूट कर बह निकलने के सिवाय उनके लिए दूसरा मार्ग कौनसा है ?

मानव-मन का सबसे बड़ा दोष है, अब्रह्मचर्य और वह है विकार और वासना के रूप में। कोई साधु है या गृहस्थ है और वह अच्छा खाना खाता है और खाने में उसकी रुचि है, तो यह भी दोष तो है, पर निभ सकता है। इस समस्या को हल किया जा सकता है। अच्छा वस्त्र पहनने की बुद्धि होती है, तो इसका भी निभाव हो सकता है, और भी जीवन की छोटी-मोटी बातें निभाई जा सकती हैं; किन्तु ब्रह्मचर्य सम्बन्धी भूल ऐसी भूल है, वासना सम्बन्धी दोष इतना बड़ा दोष है कि उसके लिए क्षमा नहीं किया जा सकता।

एक वैदिक ऋषि ने प्रार्थना के रूप में कहा है—

तन्मे मनः शिवसंकल्पमस्तु।

भगवान् के चरणों में प्रार्थना की गई है—प्रभो ! मुझे और कोई चाह नहीं है। मुझे धन की, परिवार की, संसार में प्रतिष्ठा की और इज्ज़त की कामना नहीं है। यह सब चीजें तो एक किनारे से आती हैं और दूसरे किनारे चली जाती हैं। अतएव वे प्राप्त हों तो क्या और न प्राप्त हों तो भी क्या ? मेरी तो एक मात्र अभिलाषा यही है कि मेरा मन पवित्र बने, मेरे विचारों में निर्मलता हो।

धन आया, वैभव मिला और विचार पवित्र न हुए, तो वही

धन नरक की ओर घसीट कर ले जायगा। सम्पत्ति हुई और सोने की नगरी बस गई, किन्तु उसके साथ मन में पवित्रता न आई तो वह सम्पत्ति इकट्ठी होकर क्या करेगी? वह तो जीवन को और भी ज्यादा बर्बाद करने वाली साबित होगी।

भारत के इतिहास में दो सोने की नगरियों का वर्णन आया है—लंका और द्वारिका का! समूचे भारत के इतिहास की पृष्ठ-भूमि पर केवल इन दो ही सोने की नगरियों का उल्लेख मिलता है—और दोनों का आख़िरी परिणाम भी संसार के सामने है। सोने की लंका का अन्त में क्या हुआ? सभी जानते हैं—वह राख़ का ढेर बन गई। उसका समस्त वैभव मिट्टी में मिल गया। और लाखों वर्ष व्यतीत हो जाने पर भी, आज तक जो अपमान और घृणा का भाव राक्षस जाति और रावण के नाम पर बरस रहा है, उसकी मिसाल मिलना भी कठिन है। आज तक भी उसे इज्जत और प्रतिष्ठा नहीं मिल पाई है।

दूसरी सोने की नगरी द्वारिका थी। कहते हैं, बड़ी शानदार और विशाल थी। वह बारह योजन की लम्बी और नौ योजन की चौड़ी थी। उसमें बड़े-बड़े सम्पत्तिशाली और बड़े-बड़े वीर योद्धा निवास करते थे। सब कुछ था, पर उसका भी अन्तिम परिणाम क्या हुआ? अन्त में तो वह भी राख़ के ढेर के रूप में ही परिवर्तित हो गई!

तो संसार का असाधारण वैभव पाकर भी राक्षस जाति और यादव जाति क्यों बर्बाद हो गई? दोनों सोने की नगरियाँ थीं

और दोनों के स्वामी सोचते थे कि जितने भारी और ऊँचे सोने के सिंहासन पर बैठेंगे, संसार में उतनी ही अधिक इज्जत होगी। पर उस सोने की चमक में वे भूल गये। सम्पत्ति के मद में वे जीवन को बनाने की कला को भूल गये। एक ओर रावण का विशाल साम्राज्य इसी भूल का शिकार हो कर नष्टभ्रष्ट हो गया और दूसरी ओर यादवों के असंयममय जीवन ने द्वारिका को आग में झौंक दिया। एक को परस्त्री लम्पटता ले डूबी और दूसरी को शराब ने समाप्त कर दिया।

अभिप्राय यह है कि सांसारिक इज्जत और प्रतिष्ठा कितनी ही क्यों न प्राप्त कर लो, धन कितना ही क्यों न बढ़ा लो, किन्तु नैतिक बल अगर प्राप्त नहीं होता है तो आत्मिक शक्ति नहीं प्राप्त हो सकती। बुद्धि चाहे कितनी ही विकसित क्यों न हो जाय, लेकिन विचारों में पवित्रता नहीं आती है, तो संसार में सुख और शान्ति की आशा नहीं की जा सकती।

हमारे लिए सब से बड़ा भूत हमारे बुरे विचारों का ही है। जब तक उससे पिंड न छूट जाय, शान्ति नहीं मिलेगी। कुत्सित विचारों का विष जब तक हमारे दिल और दिमाग़ में भरा रहेगा, तब तक अहिंसा, सत्य तथा ब्रह्मचर्य की निर्मल साधनाएँ जीवन में नहीं पनप सकेंगी।

एक राजा हाथी पर चढ़ कर जा रहा था। हज़ारों आदमी उसके साथ थे। जुलूस निकल रहा था। उधर एक शराबी लड़खड़ाता हुआ राजा की सवारी के सामने आया। उसकी

निगाह हाथी पर पड़ी तो उसने राजा से कहा—यह भैंस का पाड़ा कितने में बेचता है ? राजा ने सुना तो कहा—यह क्या बक रहा है ? मेरे हाथी को पाड़ा कहता है ! और मोल पूछ कर मेरा अपमान कर रहा है !

राजा को आवेश में देखकर मन्त्री ने कहा—महाराज, यह नहीं कह रहा है, कोई और ही कह रहा है। हुज़ूर, आप इस पर क्यों नाराज़ होते हैं ?

राजा ने तमक कर कहा—तुम क्या नहीं सुन रहे हो ? यही तो कह रहा है !

मन्त्री—अच्छा स्वामिन् ! और मन्त्री ने तुरन्त ही उस शराबी को पकड़वा कर कारागार में डाल दिया।

दूसरे दिन जब वह व्यक्ति राज-दरबार में महाराज के सन्मुख लाया गया तो शराब का नशा उतर चुका था और वह अपनी ठीक दशा में था। महाराज ने उससे पूछा—पाड़ा कितने में ख़रीदोगे ?

वह बोला—अन्नदाता ! जीवन की भीख मिले तो निवेदन करूँ।

राजा ने कहा—ज़रूर—जो कहना है ज़रूर कहो।

तो, उसने कहा—महाराज ! पाड़ा ख़रीदने वाला सौदागर तो चला गया। मैं क्षमा-प्रार्थी हूँ।

और मन्त्री ने उसकी इस बात का स्पष्टीकरण करते हुये कहा—अन्नदाता ! अगर यह स्वयं ख़रीदने वाला होता तो कल की तरह आज भी ख़रीदता, मगर आज यह अपनी ठीक दशा

में है। पाड़ा ख़रीदने वाला यह स्वयं नहीं—इसका नशा था, जो आज उतर चुका है।

अब ज़रा इस कहानी के अन्तस्तल पर विचार कीजिये। एक मनुष्य है और धन, वैभव, स्त्री, पुत्र आदि उसे मिले हैं तो उन में वह ऐसा फँस जाता है कि सारी ज़िन्दगी वासनाओं के पीछे पड़ कर बर्बाद कर लेता है! साधारण जन कहते हैं कि वह ऐसा करता है, वैसा करता है, किन्तु ज्ञानी कहते हैं—वह क्या करता है? उसमें रही हुई वासना का भूत उससे सब कुछ करा रहा है!

तो इस मन को अगर पवित्र बना लिया जाय तो यह सब चीज़ें नहीं हो सकतीं। क्या गृहस्थजीवन में और क्या साधुजीवन में न्यूनाधिक वासनाएँ बनी रहती हैं। किन्तु ज्ञानी उनके विषय में यही सोचते हैं कि आत्मा तो स्वभाव से निर्मल है, किन्तु इसके अन्दर शैतान पैठ गया है और विचारों की अपवित्रता की दुर्गन्ध फैल गई है। उस शैतान को जब तक निकाल न दिया जाय और उस दुर्गन्ध को जब तक साफ़ न कर दिया जाय, उस पर बाह्य नियन्त्रण रखने मात्र से कुछ नहीं होगा।

इस प्रकार जैनधर्म की साधना जीवन के अन्तरंग की साधना है। वह जीवन को अन्दर से स्वच्छ करने की बात पर ही ज़ोर देता है। जिस पात्र के भीतर बदबू भरी है, उसे बाहर से धो भी लिया जाय तो क्या प्रयोजन सिद्ध होगा? उसकी बदबू जायगी नहीं। इसी प्रकार जीवन के अन्तरंग में जो विकार छिपे हैं, जो वासनाएँ घुसी हैं, उन्हें दूर किये विना जीवन की वास्तविक

शुद्धि नहीं हो सकती । अतएव जैन-साधना हमें अन्तरतर का शोधन करने की प्रेरणा करती है। और सचाई यह है कि ऐसा किये बिना काम नहीं चल सकता।

इतिहास साक्षी है, जिन आत्माओं ने जीवन में ब्रह्मचर्य के महत्त्व को समझा, वे उन्नति के उच्चतम शिखर पर जाकर खड़े हुए—संसार में वे अजर अमर हो गये। उनमें हमारी बहिनें भी हैं, और भाई भी हैं।

ब्रह्मचर्य का तेज जिनके जीवन के अन्तर में पैदा हो गया, वे चाहे अकेले रहे, चाहे हज़ारों में रहे, मगर अपने जीवन के प्रति सदा जागरूक रहे।

हम देखते हैं कि रथनेमि, भगवान् अरिष्टनेमि के साथ संसार को छोड़ कर दीक्षा ले लेते हैं और गिरिनार पर्वत की अन्धकार से भरी हुई गुफ़ा में जाकर ध्यान लगा देते हैं। उनके मन से मृत्यु का भय निकल चुका है। पास ही में होने वाला शेर का गर्जन उनके मन में भय का संचार नहीं कर पाता है, लेकिन इतना होने पर भी वह राजीमती का लोभ न त्याग सके—ज्यों ही राजीमती ने गुफ़ा में प्रवेश किया, उनका त्याग अन्धकार में बिखरने लगा। साधना के बीहड़ पथ पर चलने वाला वह साधक भटक गया और राजीमती से कहने लगा—आओ, हम-तुम संसार के भोग भोग लें और जब उम्र ढलने लगेगी; फिर उस साधना के मार्ग के पथिक बन जाएँगे।

भुत्तभोगी तओ पच्छा,

जिणमग्गं चरिस्समो।

—उत्तराध्ययन, २२

मगर उस समय राजीमती ने जो कुछ भी उनसे कहा—उसे हम आज भी याद करते हैं। छयासी हज़ार वर्षों के बाद, आज भी वह वाणी हमारे हृदय में गूँज रही है! भगवान् महावीर का जीवन-सूर्य जब विदा होने की अन्तिम घड़ियों में गुज़र रहा था और वे अपने जीवन की अन्तिम भेंट संसार को समर्पित कर रहे थे, तब उन्होंने राजीमती और रथनेमि का यह चरित्र इतिहास जगत् के समक्ष प्रस्तुत किया था।

रथनेमि के प्रस्ताव का भगवती राजीमती ने उत्तर दिया—साधक, यह क्या कहते हो? क्या करने की सोचते हो? ज़रा होश में आओ—

वाया विद्धोव्व हडे अट्ठि-अप्पा भविस्ससि।

इस संसार में मनुष्य को जो भी अच्छी चीज़ मिली कि वह उसे पकड़ने के लिए चला। यह दुनियाँ भोग-विलास के साधनों से भरी हुई है। यहाँ एक से एक बढ़ कर वस्तुएँ मनुष्य के मन को ललचाने के लिए मौजूद हैं। भोग-विलास की दृष्टि से संसार ख़ाली नहीं है। ऐसी स्थिति में जो भी सुन्दर और आकर्षक वस्तु मिली, उसी पर ललचा गया और उसी को भोगने की कोशिश करने लगा तो कहाँ ठिकाना है? फिर तो पागल कुत्ते की ज़िन्दगी की तरह उसकी ज़िन्दगी बर्बाद ही होने को है। लेकिन तुम्हारी ज़िन्दगी बर्बाद होने के लिए नहीं है।

तालाब में एक काई का टुकड़ा आ जाता है तो उसकी क्या दशा होती है ? पूर्व की हवा चलती है तो वह टुकड़ा पश्चिम की ओर भागता है और पश्चिम की हवा का झौंका लगता है तो पूर्व की ओर भागता है। वह टुकड़ा अपनी जगह पर स्थिर नहीं रह सकता। वह तो दिन-रात भटकने के लिए ही है।

इसी प्रकार जिस साधक का मन भटका हुआ है, चंचल है और भोगों के पीछे-पीछे दौड़ रहा है, उसकी जिन्दगी भटकने के लिए ही है। जो भी हवाएँ आएँगी, उसे भटकाएँगी। वह जिन्दगी भटकने में ही रह जाएगी और साधना का लक्ष्य प्राप्त नहीं कर सकेगी।

साधना का मूल रूप फैलने में नहीं है, किन्तु जड़ के मज़बूत बनने में है। जैसे जड़ की मज़बूती न होने के कारण काई का टुकड़ा स्थिर नहीं रहता, उसी प्रकार साधना कितनी ही क्यों न फैल जाय, जड़ की मज़बूती के अभाव में उसमें गहराई नहीं आ सकती और इस कारण स्थिरता भी नहीं आ सकती।

जैसे हाथी, अंकुश के द्वारा वस में कर लिया जाता है, उसी प्रकार राजीमती की वाणी ने भी अंकुश का काम किया और जो साधक भटक रहा था, वह फिर साधना में निलीन हो गया। फिर दोनों ने अपनी साधना को उस चरम सीमा पर पहुँचाया कि अन्त में परमात्म-तत्व में लीन हो गये।

इतिहास की इस महत्त्वपूर्ण घटना में एक साधक का जीवन भूल की राह पर जा रहा था, दुर्भाग्य से यदि दूसरा जीवन भी

वही भूल कर बैठता तो फिर दोनों की आत्मा को संसार में भटकना पड़ता और दोनों का जीवन ऐसे अन्धकार में विलीन हो जाता कि, शायद् जन्म-जन्मान्तर में भी प्रकाश की किरण न मिल पाती।

इसी प्रकार सीता की जिन्दगी ग्यारह लाख वर्षों के बाद भी आज हमारे सामने प्रकाशस्तम्भ बनी हुई है, हमारा पथ-प्रदर्शन कर रही है। आज भी कोटि-कोटि नर-नारी सीता की पूजा करते हैं। क्या इस कारण कि वह राजा की बेटी थी ? नहीं ! तो क्या इसलिए कि वह राजा की पत्नी थी ? इसलिए भी नहीं। संसार में असंख्य राजकुमारियाँ और रानियाँ आईं और चली गईं। कौन उन सब के नाम आज जानता है ? इतिहास के पृष्ठों पर उनका नाम नहीं चढ़ा है। किन्तु सीता के नाम का उल्लेख हमारे शास्त्रों ने गौरव के साथ किया है; इतिहास ने उस पवित्र नाम को अपने भीतर स्थान देकर महत्त्व प्राप्त किया है और इतना ही नहीं, वह पवित्र नाम भारत के जन-जन के मन पर गहरी स्याही से अंकित है।

सीता के सामने एक ओर दुनियाँ भर के प्रलोभन खड़े थे और दूसरी ओर रावण जैसा दैत्य मौत की तलवार लेकर खड़ा था। मगर न प्रलोभन ही, और न तलवार ही उसके मन को डिगा सकी। वह अपनी साधना के पथ से इंच मात्र भी विचलित नहीं हुई।

तो हम सोचते हैं कि संसार में मनुष्य कहीं भी हो, सुख में हो

अथवा दुःख में हो, एकान्त में हो या हज़ारों के बीच में हो, अगर कोई मनुष्य की रक्षा कर सकता है तो वह है उसका अन्तरंग चरित्र-बल। बस, आन्तरिक चरित्र बल ही जीवन को दृढ़, अविचल और पवित्र बनाए रख सकता है। इस रूप में मनुष्य की जो मानसिक प्रवृत्ति है, वही जीवन में बहुमूल्य साधना है। सुकुमारी सीता की इसी चरित्र-बल की शक्ति ने प्रचण्ड रावण को-परास्त किया था।

राजर्षि नमि ने एक बार अपनी सेनाओं को आदेश देते हुए एक महत्त्वपूर्ण बात कही थी। उन्होंने कहा—जब तुम दूसरे देश में प्रवेश करोगे और विजेता बन कर जाओगे तो वहाँ का वैभव और भोग-विलास की सामग्री तुम्हारे सामने होगी। सैनिक के हाथ में शक्ति रहती है और वह उसे अन्धा कर देती है; किन्तु वहाँ का धन-वैभव तुम्हारे लिए नहीं होना चाहिए, तुम्हारे अन्दर इतना प्रबल चरित्रबल होना चाहिए कि तुम वहाँ की एक भी वस्तु न छू सको। उस देश की सुन्दरी स्त्रियाँ तुम्हारी माताएँ और बहिनें होनी चाहिएँ।

सैनिक युद्ध में लड़ता है, संहार करता है, प्रलय मचा देता है और ख़ून की नदियाँ बहा देता है, किन्तु जो सेनाएँ नैतिक बल पर क़ायम रहती हैं वे जहाँ भी जाती हैं, न धन को लूटने का प्रयत्न करती हैं और न माता-बहिनों की इज्जत छीनने की ही कोशिश करती हैं, वे जहाँ जाती हैं जनता के मानस को जीत लेती हैं, उनके हृदय-पटल पर अपने उच्च चरित्र की छाप लगा देती हैं।

तो ऐसी सेना के सैनिकों के जीवन जैसा ही हर गृहस्थ का जीवन होना चाहिए। गृहस्थ में यदि नैतिक बल है तो जब वह घर में रहता है तब भी इज्जत और प्रतिष्ठा प्राप्त करता है और जब नाते-रिश्तेदारों में जाता है तब भी आदर पाता है। जिसमें नैतिक बल है, लाखों का ढेर भी उसके लिए राख का ढेर है। उसके लिए सुन्दरी से सुन्दरी रमणियाँ मातायें और बहिने हैं।

दूकानदार में भी चरित्रबल होना चाहिए। उसकी दूकान पर माताएँ और बहिनें आती हैं और दिन भर ठाठ लगा रहता है। किन्तु दूकानदार का शीलसौजन्य अगर अमृतमय है, उसकी दृष्टि में सात्विकता है, तो यह इतनी बड़ी प्रामाणिकता है कि संसार में उसके लिए किसी चीज़ की कमी नहीं होगी। अभिप्राय यह है कि कोई कहीं भी रहे और आजीविका के लिए कुछ भी करे, मगर उसमें चरित्रबल हो तो उसका जीवन स्पृहणीय बन जायगा।

चौरानवे वर्ष की उम्र में एक बड़े दार्शनिक अभी इस दुनिया से गये हैं। उनका नाम था—जार्ज बर्नार्ड शा। वह अपने युग के, दुनिया के सब से बड़े विचारक माने गये हैं। वे यूरोप में, जहां चारों ओर भोग और वासनाओं का वातावरण है, रहे, किन्तु उन्होंने अपने जीवन में कभी वासना के ग़लत रूप को स्थान नहीं दिया। उन्होंने कभी शराब नहीं छुई। उन्होंने ऐसा ऊँचा चरित्रबल क़ायम किया कि संसार की स्त्रियों के लिए उनके जीवन में सर्वदा पवित्र-भाव का झरना बहता रहा। इस रूप में

जीवन यापन करने वाले के लिए चौरानवे वर्ष की उम्र भी कम है। उनकी क़लम सुन्दर विचार देती रही और दुनियाँ तलवार से जितनी नहीं डरती, उतनी उनकी क़लम से डरती रही। चौरानवे वर्ष की उम्र में भी उनकी क़लम चलती रही। यह ब्रह्मचर्य का ही महान् बल था। नैतिक बल ने उनके मस्तिष्क को इतना प्रवाहशील बना दिया था कि अन्त तक निरन्तर चिन्तन की स्वच्छ धारा बहती रही!

कुछ मनुष्य ऐसे होते हैं, जिनका प्रारम्भिक जीवन तो चिन्तन और विचारों से भरा-पूरा रहता है, मगर जीवन के कुछ वर्ष बाद ही वह सूखे हो जाते हैं। और तब उनकी दशा ऐसी हो जाती है कि अपना कारोबार चलाने के लिए और धर्म के काम को आगे बढ़ाने के लिए भी उनमें सूझ-बूझ नहीं रहती। उनकी बुद्धि ठस हो जाती है। इसका कारण क्या है? अन्दर में बुद्धि का जो झरना बह रहा था, वह क्यों सूख गया? आप सोचेंगे तो समझेंगे कि अपवित्र और गंदे विचारों ने पवित्र बुद्धि के झरने को सोख लिया है।

भारतीय साहित्य में व्यास के सम्बन्ध में एक किंवदन्ती प्रचलित है। बूढ़े व्यास जब महाभारत रचने की तैयारी करने लगे तो कोई लिखने वाला नहीं मिला। लोगों ने कहा कि आप की वाणी के प्रवाह को भला हम कैसे वहन कर सकेंगे? आख़िर लेखक की शोध में सब ओर घूमने के बाद व्यास गणेशजी के पास पहुँचे और उनसे बोले—तुम्हीं लिख दो न हमारा महाभारत।

तब गणेशजी ने कहा—लिख तो दें, लेकिन तुम बूढ़े बहुत हो गये हो। तुम्हारे अन्दर अब क्या रक्खा है जो हम लिखेंगे ? बुढ़ापे में क़लम पकड़ाने की बात कह रहे हो, किन्तु तुम्हारा झरना तो अब सूख चुका है। अब जो लिखाना चाहते हो, उसे तो जिसे कह दोगे वही लिख देगा ! मुझसे ही लिखाना है तो मेरी एक शर्त है। एक शब्द बोलोगे और एक घंटे तक सोचोगे तो हमारी-तुम्हारी नहीं पटेगी। मैं तो निरन्तर लिखूँगा और जहां एक बार भी आपका बोलना बन्द हुआ कि मेरा लिखना बिलकुल बन्द हो जाएगा। मैं तुम्हारी व्यर्थ की सोचा-साची में अपना अमूल्य समय नष्ट नहीं कर सकता।

व्यास बोले—हम बुड्ढे तो हो गये हैं, फिर भी हम बिना रुके हुए तुम्हें लिखाते जाएँगे।

गणेशजी ने बात पक्की करने के लिए फिर कहा—एक बार भी रुक गये तो फिर नहीं लिखूंगा।

व्यास—तुम्हारी शर्त मुझे स्वीकार है। किन्तु मेरी भी एक शर्त है कि मैं जो लिखाऊं, उसका अर्थ समझ कर लिखना। यों ही सूने दिमाग़ से न लिखते जाना।

गणेशजी—मैं तो सब समझ लूंगा। मैं विद्या का देवता हूँ। अर्थ समझना मेरे लिए क्या बड़ी बात है !

आखिर व्यासजी लिखाने और गणेशजी लिखने बैठे। व्यासजी के विचारों का ऐसा प्रवाह बहना शुरु हुआ कि गणेश जी ने कुछ देर तो लिखा; फिर क़लम चलाना कठिन हो गया

और दबादब घसीट कर लिखना शुरू किया। लिखना आरम्भ करते समय आँखों में जो चमक थी, वह फीकी पड़ गई और जो उल्लास था वह भी ढीला पड़ गया।

तब व्यासजी ने ताड़ लिया कि इनका मस्तिष्क काम नहीं कर रहा है। वे ऐसा श्लोक बोले कि जिसका अर्थ समझने के लिए कुछ सोच-विचार करना पड़े। गणेशजी लिखे जा रहे थे। व्यास जी ने टोक कर कहा—अर्थ करो, क्या लिखा है ?

गणेशजी झुँझला कर बोले—संभालो अपनी पोथी, तुम्हारे पास विचार नहीं रहे हैं।

व्यासजी ने मुस्करा कर कहा—सो तो ठीक, किन्तु अर्थ तो बताओ, क्या लिखा है ?

तब गणेशजी बोले—तुम्हारी-हमारी शर्त खत्म हो गई। अब तुम शान्त मन से बोलो और मैं भी शान्त मन से लिखूंगा।

तो अभिप्राय यह है कि मनुष्य का जो चिन्तन है और मनुष्य के मन में जो विचार धाराएँ आ रही हैं, उनके पीछे साधनाएं होती हैं। नैतिक बल, चमकता हुआ मनोबल होता है। ऐसा मनुष्य जहां कहीं भी अपने सिद्धान्त के लिए तन कर खड़ा हो जाता है, इधर-उधर के, दुनियां के, कितने ही धक्के क्यों न लगें, वह मैदान से नहीं हटता है। वह अपने जीवन की सन्ध्या के काल में भी मध्याह्न के सूर्य की भांति चमकता और दमकता रहता है और अपने जीवन की उज्ज्वल रश्मियों से विश्व को उद्भासित करता रहता है। वह ऐसा आलोकपुंज है जो

समय से पहिले कभी नहीं बुझता। दुनिया की कोई भी हवा, तूफ़ान और आंधी उस पर असर नहीं करती।

भगवान् महावीर को देखो न! केवल ज्ञान तो उन्हें बाद में हुआ था, किन्तु अपने चरित्र बल से, ही उन्होंने साढ़े बारह वर्ष तक कठिन साधना की थी। और उस जवानी में, जो प्रायः संसार की गलियों में भटकती है, वे सोने के महलों को, प्रिय परिवार को और भोगोपभोग की विपुल सामग्री को ठुकरा कर चल देते हैं। स्वर्ग की देवांगनाएँ डिगाने के लिए आती हैं, आपत्तियों और संकटों के पहाड़ उनके सामने खड़े किये जाते हैं, भोग-विलास के फन्दे फैलाये जाते हैं, किन्तु आप देखते हैं कि एक क्षण के लिए भी वे अपनी साधना से नहीं डिगे। वे निरन्तर अपने साधनामय जीवन की धारा में ही बहते रहे। उनके अन्दर यह जो अप्रतिहत नैतिक बल आया, वह ब्रह्मचर्य के द्वारा ही आया। जिसे नैतिक बल प्राप्त नहीं है, वह क्या भर जवानी में इस प्रकार गृहत्याग कर सकता है? अगर क्षणिक उत्तेजना के वश होकर कोई त्याग भी देता है तो आगे चल कर वह गड्ढे में गिर जाता है।

तो संसार को बदलने की जो प्रेरणाएँ आती हैं और जीवन में जो महान् रोशनी चमकने लगती है, वह सिद्धान्त के बल पर ही आती है, चरित्रबल ही उसे पैदा करता है।

आज आपकी क्या स्थिति है? आप आज एक चीज़ याद करते हैं और कल उसे भूल जाते हैं। ऐसा मालूम पड़ता है कि रेगि-

स्तान में पैर रखा, रेत में पैर का निशान बना और तूफ़ान आया नहीं कि वह निशान मिटा नहीं। पैर उठाने में देर होती है, मगर निशान मिटने में देर नहीं होती। शास्त्रों का चिन्तन है और हाथ में पोथियाँ हैं, किन्तु समय आता है तो कोई भी सूचना और कोई भी विचार नहीं मिलता। स्मृतियाँ इतनी धुँधली हो जाती हैं कि केवल अक्षर बाँचने के काम के रह जाते हैं। इसका प्रधान कारण यही है कि मस्तिष्क में विकारों का तेज प्रवाह बहता रहता है और वह प्रवाह किसी दूसरे चिन्तन को ठहरने ही नहीं देता।

ऐसे लोग अपने जीवन में क्या काम करेंगे? जिनकी स्मृति काम नहीं देती है और जो जड़ की भांति अपना जीवन गुज़ार देते हैं, उनसे संसार को क्या उम्मीद हो सकती है?

इसके विपरीत जिसने ब्रह्मचर्य की साधना की है और जो विचारों को पवित्र बनाए रखता है, उसके मस्तिष्क में यदि एक भी विचार पड़ जाता है, तो वह अमृत बन जाता है; और समय आने पर अनायास ही वह स्मरण में आ जाता है। ग्रन्थ को देखे तीस-चालीस वर्ष हो जाते हैं, किन्तु उसकी छाया मस्तिष्क में ज्यों की त्यों खड़ी रहती है। यह स्थिति हमें ब्रह्मचर्य के द्वारा ही प्राप्त होती है।

मन जितना पवित्र होगा, उतने ही सुन्दर विचार आएँगे। किसी तालाब में पानी भरा है। किन्तु वह गन्दा है, उसमें मैल है और कीचड़ है। उस पानी में झाँक कर आप देखेंगे तो अपना प्रतिबिम्ब नहीं देख सकेंगे। जिस पानी के कण-कण में कीचड़

और मैल समाया हुआ है, उसमें आपका प्रतिविम्ब कैसे दिखाई दे सकता है ? हाँ, पानी यदि साफ़ और निर्मल है किन्तु हवा के आघातों से उठने वाली हिलोरों के कारण चंचल हो रहा है, तो उसमें प्रतिविम्ब तो दिखाई देगा, किन्तु डांबाडोल अवस्था में। तो पानी साफ़-सुथरा भी होना चाहिए, और स्थिर भी होना चाहिए, तभी मनुष्य उसमें अपना मुख ज्यों का त्यों देख सकता है।

इसी प्रकार जिस मन में विकार भरे हैं, वासनाएँ घुसी हैं, और इस कारण जो मन हर तरफ़ से मलिन बना हुआ है, उसमें आप सिद्धान्त और शास्त्र का कोई भी प्रतिविम्ब नहीं देख सकेंगे। और अगर मन में चंचलता है, तब भी ठीक-ठीक नहीं देख सकेंगे।

तो ब्रह्मचर्य की साधना वह साधना है, जो हमारे जीवन के मैल को निकाल कर दूर कर देती है और हमारे चिन्तन के ढंग को भी साफ़ कर देती है और इतना महान् बना देती है कि कुछ पूछिए मत।

हमारे यहाँ एक आचार्य मल्लवादी हो गए हैं। वह बचपन से ही गम्भीर और चिन्तनशील स्वभाव के थे। उनके बचपन की एक घटना है—वह जब एक बार चिन्तन में लीन थे, तब उज्जैन के तत्कालीन सम्राट की सवारी उधर होकर निकली। मन्त्री उसके साथ था और वह जैन था। राजा ने देख कर पूछा—यह लड़का क्या कर रहा है ? यह तो तुम्हारा उपाश्रय जान पड़ता

है। क्या यह भी साधु बनेगा ? गुरू बनेगा ?

मन्त्री ने कहा—पृथ्वीनाथ, यह तो गुरू ही हैं।

राजा को विस्मय हुआ। इतनी-सी उम्र में गुरू !

फिर राजा ने उस बाल गुरू से पूछा—किं मिष्टम् ? अर्थात् क्या मीठा है ? राजा ने यह प्रश्न किया, मगर उसने राजा की ओर मुँह फेर कर भी नहीं देखा। उसने अपने चिन्तन में रहते हुए ही कहा—'दुग्धम्'। अर्थात् दूध मीठा है।

कहते हैं, छः महीने के बाद फिर राजा की सवारी निकली और राजा ने देखा कि वह गुरू अब भी ज्यों का त्यों चिन्तन में लीन है। राजा को ध्यान आया, छः महिने पहले मैंने एक प्रश्न किया था। अब उसने, उसी प्रश्न से सम्बन्धित एक नया प्रश्न पूछा—'केन सहितम्' ? अर्थात् किसके साथ मीठा है ?

प्रश्न सुन कर उस कुमार साधक ने, तरुणाई की ओर बढ़ते हुए उस योगी ने, यों ही ध्यान लगाये हुए कह दिया—'शर्करया सह'। अर्थात् दूध मीठा है शक्कर के साथ।

राजा ने ज्यों ही यह उत्तर सुना, वह हाथी से उतरा और साधक के चरणों में गिर पड़ा। विस्मित और श्रद्धामय भाव से उसने कहा—मैंने छः महीना पहले पूछा था—क्या मीठा है ? आपने उत्तर दिया था–दूध। अब आज उससे आगे का प्रश्न पूछा तो आपने बिना रुके, बिना विचार किये, तत्काल उसका उत्तर दे दिया ! मानो छः महीने पहले का प्रश्न आपकी स्मृति में ऐसा ताज़ा है कि अभी-अभी किया गया हो। महाभाग !

आपकी साधना सचमुच अद्भुत है।

वही तरुण साधक, आगे चल कर, जैनसंघ में चमका और उसका नाम मल्लवादी पड़ा। वह अपने समय का बहुत बड़ा महारथी हुआ तथा कन्याकुमारी से हिमालय प्रदेश तक घूम-घूम कर जैन-धर्म का जयघोष किया। उसके ग्रन्थ इतने गम्भीर और भावपूर्ण हैं कि उनकी एकएक पंक्ति पर उनके विराट चिन्तन की छाप स्पष्टतया लक्षित होती है।

इस स्थिति को सामने रख कर विचार करते हैं तो अनायास ही प्रश्न उपस्थित हो जाता है कि यह विचार कहाँ से आये ?

पूर्व जन्म के संस्कार तो होते ही हैं, पर उनके साथ-साथ इस जन्म के संस्कार भी कम प्रभावशाली नहीं होते। इस जन्म के संस्कारों की पवित्रता के बिना ऐसी स्थिति प्राप्त नहीं होती।

जहाँ चरित्रबल प्रबल होता है और जिस जीवन में ब्रह्मचर्य का दीपक जगमगाता रहता है, उसके मस्तिष्क में छह महीने तो क्या, वर्षों पुरानी स्मृतियाँ भी ज्यों की त्यों—वर्तमान की तरह—ताजा बनी रहती हैं। ब्रह्मचारी का मस्तिष्क बड़ा उर्वर होता है और संग्रहशील भी होता है। मगर आज हम जिस ओर भी देखते हैं, भोग-विलास और विकार की ही घटाएँ दीख पड़ती हैं। लोगों का चरित्रबल क्षीण हो रहा है और यही कारण है कि न योग्य सैनिक मिलते हैं, न अच्छे व्यापारी मिलते हैं, न अच्छे मालिक मिल रहे हैं और न अच्छे मजदूर मिल रहे हैं। न अच्छे गृहस्थ नजर आते हैं और न आदर्श सन्यासी ही नजर

आते हैं। सब के सब फीके-फीके दिखाई देते हैं। अगर ब्रह्मचर्य की साधना की जाय तो यह स्थिति जल्दी ही समाप्त हो सकती है और तब चमकते हुए मनुष्य नज़र आएंगे।

आज हज़ारों-लाखों पढ़ने वाले नौजवान विद्यार्थी निस्तेज और रुग्ण शरीर का ढांचा लिए फिरते हैं। ज़रा-सी कठिनाई आती है तो रोने लगते हैं। उन्हें पद-पद पर निराशा होती है। उनके जीवन में स्फूर्ति नहीं, उत्साह नहीं, आगे बढ़ने का जोश नहीं और मुसीबतों से टक्कर लेने का साहस नहीं! यह सब चरित्रबल के ही अभाव का परिणाम है। ब्रह्मचर्य और केवल ब्रह्मचर्य की साधना के द्वारा ही उनमें प्राणशक्ति का संचार हो सकता है। इस प्रकार ब्रह्मचर्य ही साहस, शक्ति, उत्साह और प्राणशक्ति का दाता है।

ब्यावर
८-११-५०

विवाह और ब्रह्मचर्य

जीवन के उत्थान के दो मार्ग हैं। उनमें एक मार्ग ऐसा है, जिसे कठोर मार्ग कह सकते हैं। उस मार्ग पर चलने वाले को अपना सर्वस्व समर्पित करना पड़ता है, सब को छोड़ कर चलना पड़ता है। किसी भी प्रकार की वासना का सर्वथा त्याग कर देना पड़ता है। चित्त से वासनाओं को हटा कर जीवन को हल्का करने की ही बुद्धि वहाँ होती है। साधु को अपना जीवन इसी प्रकार बनाना होता है। यही कारण है, जो इस प्रथम मार्ग के पथिक साधु का जीवन बहुत ही पवित्र और ऊँचा माना जाता है।

मगर इस जीवन के सम्बन्ध में एक महत्त्वपूर्ण बात ध्यान में रहनी चाहिए। इस प्रकार के जीवन का विकास अन्दर से होता है। यदि साधक की इस ओर की पर्याप्त तैयारी नहीं है और

अन्तर में वह ऊँचा नहीं उठा है। केवल ऊपर से उस पर त्याग का बोझ लाद दिया गया है, त्यागी का वेष पहना दिया गया है, तो वह जीवन में बुरी तरह पिछड़ जायेगा, दब जायेगा। उसका जीवन अन्दर ही अन्दर सड़ने-गलने लगेगा और वह एक दिन समाज के जीवन के लिए और अपने जीवन के लिए भी अभिशाप बन जायेगा। वह त्यागी जीवन के गुरुतर भार को ढो-ले चलने में असमर्थ हो जायेगा, ठीक उसी प्रकार जैसे—

न हि वारणपर्याणं वोढुं शक्तो वनाऽयुजः।

हाथी के पलान को गधा नहीं ढो सकता।

तो साधु की राह वन्दनीय राह है और पवित्र है। इस मार्ग के समान पवित्र दूसरी राह नहीं है। साधु को भगवान् का स्वरूप माना गया है, साधु के दर्शन भगवान् के दर्शन माने गये हैं।

साधूनां दर्शनं पुण्यं, तीर्थभूता हि साधवः।

साधु का दर्शन पुण्यमय दर्शन है; क्योंकि साधु साक्षात् तीर्थस्वरूप हैं।

यह सब बातें कुछ साधु को ऊँचा बताने के लिए नहीं गढ़ ली गईं हैं और ऐसा भी नहीं है कि समाज में पूजनीय बनने के लिए बड़ी-बड़ी बातें कह डाली गई हों और कह दिया हो कि साधु भगवत्-स्वरूप हो कर विचरण करता है। यह सब बातें भगवान् महावीर के द्वारा कही हुई हैं। भगवान् महावीर ने जो नियम लिए थे, वही नियम साधु लेते हैं। अन्तर है तो केवल यही कि भगवान् अपने जीवनोद्देश्य की अन्तिम यात्रा की मंज़िल

को पार कर गये हैं और साधु पार कर रहे हैं। सम्भव है कि कोई उस मंज़िल को पार न भी कर सके, किन्तु व्रत-प्रत्याख्यान करने का जो ढंग है और संसार से अलग और दुनियां से निस्पृह होने का जो ढंग है, और आध्यात्मिक क्षेत्र में चलने का जो तरीक़ा है, उसमें अन्तर नहीं है। तो आज से पच्चीस सौ वर्ष पहले भगवान् ने जो नियम लिए थे, वही नियम आज भी साधु लेते हैं। इस रूप में जीवन का जो शाश्वत सिद्धान्त है, उसमें काल कोई व्यवधान या विभेद नहीं डाल सका है और परिस्थितियाँ कोई परिवर्तन नहीं ला सकीं हैं। अतएव जैसे तब, वैसे ही अब भी साधु का जीवन उतना ही पवित्र है और उसके आगे बढ़ने की यह राह अब भी उतनी ही महत्त्वपूर्ण है।

स्मरण रखना चाहिए कि यह साधु-वेष की महिमा नहीं है। यह महिमा साधु के सैद्धान्तिक जीवन की महिमा है। हमारे यहाँ साधुत्व को महत्त्व दिया गया है, साधुवेष को नहीं सराहा गया।

इसीलिए कहा गया है कि साधु के जीवन को अपनाने के लिए अन्दर की भी तैयारी होनी चाहिए।

गुणाः पूजास्थानं गुणिषु न च लिङ्गं न च वयः।

साधु की पूजा उसके शरीर की पूजा नहीं है और उसके वेष की भी पूजा नहीं है। साधु की पूजा तो उसमें विद्यमान गुणों की पूजा है। और गुणों को विकसित करने के लिए ही साधु को इस कठिन-कठोर मार्ग पर चलना पड़ता है। इसमें उसकी अवस्था

बाधक नहीं बनती और न सहायक ही ! कोई छोटी अवस्था का साधु हो ही नहीं सकता, ऐसा भी नहीं है और न यही है कि किसी की उम्र पक गई हो तो वह पूजा के योग्य इसीलिए बन जाय। केवल गुण ही पूजा के स्थान हैं और यह राह बड़ी कठिन है। इस मार्ग पर आगे बढ़ने के लिए बड़ी सावधानी की ज़रूरत होती है।

एक आदमी पैदल चलता है, दूसरा घोड़ा-गाड़ी पर चलता है, तीसरा रेल से चलता है और चौथा हवाई जहाज़ से चलता है। चलते तो सभी हैं, मगर उनकी चाल क्रमशः तीव्र से तीव्रतर होती है; मगर जिस क्रम से वह तीव्र होती जाती है उसी क्रम से उसमें ख़तरा भी अधिकाधिक बढ़ता जाता है। गति की तीव्रता में ज़रा-सा चूके, तनिक भी असावधानी हुई तो, बस फिर कहीं के न रहे !

जब कोई भी व्यक्ति संसार से निकल कर साधु जीवन में आना चाहता है तो उससे यही कहा जाता है, क्या तुमको ठीक तरह साधु-जीवन के महत्त्व के दर्शन हो गये हैं, क्या तुम साधु-जीवन के दायित्व को भली-भांति समझ चुके हो और उस भार को उठाने के लिए अपने में क्षमता अनुभव करते हो, तब तो इस राह पर आओ; अन्यथा इसे अंगीकार करने से पहले तुम गृहस्थ-जीवन में सुधरने का प्रयत्न करो। और जब साधु-जीवन के योग्य बन जाओ तो इस मार्ग पर आ सकते हो।

तो जीवन के उत्थान की एक राह है साधु-जीवन की, जिसे

मैंने कठोर राह कहा है और दूसरी राह है गृहस्थ-जीवन की। इस दूसरी राह में उतना ख़तरा नहीं है और न इतना अधिक मन को क़ाबू में रखने की ही बात है। किन्तु गृहस्थ का जीवन ऐसा जीवन भी नहीं है कि वह अपने स्थान पर जम कर ही खड़ा है और गति नहीं कर रहा है अथवा संसार की ओर ही यात्रा कर रहा है। गृहस्थ का जीवन भी मोक्ष की ओर ही जा रहा है; इसलिए भगवान् महावीर ने दो प्रकार के धर्म बतलाए हैं—

दुविहे धम्मे—अगारधम्मे य अणगार धम्मे य।

—ठाणांगसूत्र

अर्थात् धर्म दो प्रकार का है—*गृहस्थधर्म* और साधुधर्म।

तो गृहस्थ के कर्त्तव्य को भी भगवान् ने मोक्ष का मार्ग ही माना है—ठीक उसी प्रकार, जिस प्रकार साधु के कर्त्तव्य को! इसीलिए भगवान ने गृहस्थ के साथ भी धर्म शब्द का ही प्रयोग किया है।

अगर गृहस्थ जीवन में भी मनुष्य के क़दम ठीक-ठीक पड़ते हैं, मन ठीक-ठीक विचारता है और सोचता है, मनुष्य संसार में रहता हुआ और संसार के काम करता हुआ भी उनमें आसक्ति और वासना नहीं रखता है, अपने मन को उसी शुद्ध केन्द्र की ओर लगाए रहता है तथा दूसरी तरफ़ गृहस्थ की जो जिम्मेदारियाँ आती हैं, उनको भी निभाता चलता है, तो भले ही उस मनुष्य के क़दम तेज़ न हों और वह ढीले क़दमों से चल रहा हो, किन्तु उसका एक-एक क़दम मोक्ष की ओर ही उठ रहा है। राजस्थान

के एक साधक ने कहा है—

रे समदृष्टि जीवड़ा, करे कुटुम्बप्रतिपाल।
अन्तर से न्यारा रहे, ज्यों धाय खेलावे बाल॥

यह बात बहुत ही महत्त्वपूर्ण बात है—जवाबदारी लेना, उत्तरदायित्व लेना तथा समाज, राष्ट्र और कुटुम्ब-परिवार का भार अपने कन्धों पर उठा लेना और उसे पूरा भी करना, फिर भी अन्दर से उसमें आसक्ति या मोह नहीं होना—यह बड़ी बात है। इसीलिए गृहस्थ के साथ भगवान ने धर्म शब्द को जोड़ा है। सद्‌गृहस्थ कुटुम्ब का पालन भी करता है, मगर उसमें आसक्ति भी नहीं रखता। यही इस जीवन की महत्ता है। और यहाँ कुटुम्ब का अर्थ है—'वसुधैव कुटुम्बकम्'! समाज और देश को कुटुम्ब से न्यारा कहा जाता तो उनमें भेदभाव की कल्पना आ जाती। मगर समदृष्टि गृहस्थ के अन्तर में ऐसे भेदभाव के लिए स्थान कहां? उसके लिए तो जैसा कुटुम्ब-परिवार है, वैसा ही देश और समाज है और जैसा देश और समाज है वैसा ही कुटुम्ब-परिवार है। समदृष्टि की इस विशाल कल्पना को सन्त ने एकमात्र 'कुटुम्ब' शब्द का प्रयोग करके बड़े सुन्दर ढंग से व्यक्त कर दिया है।

सम्यग्दृष्टि जीव समाज, राष्ट्र और कुटुम्ब के उत्तरदायित्व को यथावत् पालन करता है। इस रूप में उसके कार्य करने का ढंग कुछ ऐसा होता है कि समाज के अन्य व्यक्ति समझते हैं कि वह संसार के मोह में बुरी तरह से आसक्त है; किन्तु

अन्दर की जो उसकी गति है और जीवन है, वह प्रतिक्षण उस अध्यात्ममार्ग की ओर ही बह रहा है।

धाय किसी के बच्चे को लेकर पालती है, समय पर दूध पिलाती है और यह भी ध्यान रखती है कि बच्चे को सर्दी-गर्मी न लगने पावे तो इस प्रकार उसके साथ माता का हृदय जोड़ लेती है और इसी कारण कभी-कभी ऐसा होता है कि बच्चा धाय को ही माँ समझ लेता है और अपनी माता को भूल जाता है। आप पुराने इतिहास को टटोलेंगे तो देखेंगे कि इस धाय नामधारी माताओं ने भी बड़े भारी उत्सर्ग किये हैं और इन्क़िलाब किये हैं। पन्ना धाय का उज्ज्वल उदाहरण आज भी जन-जन की जीभ पर नाचता है। आप जानते हैं—उदयसिंह मेवाड़ के महाराणा थे। वह जब शैशव-काल में धाय की निगरानी में पालने में भूल रहे थे, उस समय वनवीर नंगी तलवार लेकर उस मासूम बच्चे की हत्या करने आया और पन्ना से पूछने लगा—उदयसिंह कहाँ है ?

पन्ना के सामने बड़ा ही विकट प्रश्न आ गया और बड़ी ही ज़बरदस्त जवाबदारी आ गई! और उसने उस जवाबदारी की पूर्ति के लिए राजस्थान के इतिहास में वह महत्त्वपूर्ण अध्याय जोड़ा है, जो युग-युग तक मानव के मन में कर्त्तव्य की पवित्र भावना जगाता रहेगा।

तो माताएँ तो किस रूप में होंगी और कितनी गम्भीर होंगी, जब कि एक धाय भी अपने उत्तरदायित्त्व को निभाने के

लिए और एक बच्चे की रक्षा करने के लिए अपना सर्वस्व होम देने को तैयार हो जाती है !

उदयसिंह कहाँ है ? यह विकट प्रश्न ज्यों ही उसके सामने आया, वह प्रश्न की गम्भीरता को तत्काल समझ गई। वह उदयसिंह की ओर उंगली उठाती है तो मेवाड को अपने भावी नायक से हाथ धोना पड़ता है। और यदि उदयसिंह के बदले अपने बच्चे की ओर इशारा करती है तो उसके कलेजे के टुकड़े हो जाते हैं ! मगर उसने तो मेवाड़ के नायक की रक्षा का भार अपने सिर पर लिया है। वह उदयसिंह की ओर उंगली करे तो कैसे करे ? क्या वह अपने उत्तरदायित्व से विमुख हो जाय ? नहीं, पन्ना धाय ऐसा नहीं करेगी। वह प्राणोत्सर्ग से भी महान् उत्सर्ग करेगी, पर, अपने कर्त्तव्य और दायित्व से नहीं टलेगी। उसने पल भर भी विलम्ब किये बिना दो टूक फैसला कर दिया।

आपके सामने यह प्रश्न उपस्थित होता तो फैसला करने में कई दिन, हफ्ते और महीने निकल जाते; और वर्ष और शायद जीवन भी निकल जाता, फिर भी फ़ैसला न हो पाता। आपके सामने ज़रा-सा चन्दा या दान देने या तपस्या करने का प्रश्न है तो उसका फ़ैसला करने के लिए भी महीनों निकल जाते हैं— इससे पूछेंगे और उससे पूछेंगे। यह देश के लिए दुर्भाग्य की बात है कि मनुष्य को झटपट फ़ैसला करना नहीं आता है।

हमारे पास कोई युवक गृहस्थ आता है और वह गृहस्थ से

साधु बनना चाहता है, तो उसके लिए भी घूमता रहता है और वर्ष के वर्ष व्यतीत हो जाते हैं, न गृहस्थ बन कर ही रह सकता है; न साधु बन कर ही। गृहस्थ में जो कड़क आनी चाहिए, वह भी नहीं आती तो कमाने खाने से भी चला जाता है; और दूसरी तरफ़ साधु जीवन में भी प्रवेश नहीं कर पाता है कि उसकी ही महक ले सके।

तो कठिनाइयाँ तो हैं किन्तु उनको क़दम जमाकर तय किया जा सकता है। दोनों ही ओर काँटों की राह पर चलना है, फूलों की राह पर नहीं चलना है। मगर वह फैसला ही नहीं कर पाते कि किस राह पर चलें और किस राह पर न चलें ? वह गृहस्थ बन जाते तो बहुत अच्छे गृहस्थ बनते और साधु बनते तो भी अच्छे साधु बनते। मगर फ़ैसला ही नहीं हो सका। और फ़ैसला न हो सका तो यौवन की गर्मी निकल गई और जीवन निस्तेज हो गया। उसके बाद वे साधु के या गृहस्थ के जीवन में आये भी तो कुछ नहीं कर सके।

तो फ़ैसला करना एक टेढ़ा काम है। और तत्काल फ़ैसला न कर सकने के कारण ही बड़े-बड़े साम्राज्य भी ख़ाक में मिल जाते हैं। बड़े-बड़े सेनापति भी चटपट फ़ैसला न कर सकने के कारण गड़बड़ में पड़ जाते हैं और सेनाएं मर मिटती हैं। अतएव जीवन में दो टूक फ़ैसला करना बड़ा मुश्किल काम है।

तो पन्ना को कितना समय मिला फ़ैसला करने के लिए ? एक घड़ी भी नहीं मिली। मुझे तो देर लगी यह भूमिका बांधने

में, किन्तु पन्ना को देर नहीं लगी। उसने धाय के कर्त्तव्य को अच्छी तरह समझ लिया। एक ओर उसका बच्चा और दूसरी ओर उदयसिंह झूल रहा था। उसे एक ओर अपने प्राणप्रिय बालक की और दूसरी ओर अपने कर्त्तव्य की याद आ गई। उसने अपने कर्त्तव्य को महान् समझा और अपने बच्चे की ओर उंगली उठा दी।

पन्ना का फ़ैसला करना और उँगली उठाना था कि बनवीर की चमकती हुई तलवार बिजली की तरह कौंधती है और उसके बच्चे के दो टुकड़े हो जाते हैं! मगर गज़ब का दिल पाया था पन्ना धाय ने। वह रोती नहीं है और बनवीर को मालूम नहीं होने देती कि उसका बच्चा क़त्ल हो गया है। वह अंधे की तरह ही आया और अन्धे की तरह ही लौट गया!

तो धाय का कर्त्तव्य कितना ऊंचा है। फिर भी वहाँ दो टूक फैसला है कि धाय धाय है और बच्चा उसका बच्चा नहीं है। अन्दर ही अन्दर वह समझती है कि मेरा काम उत्तरदायित्व निभाने का है, आखिर बच्चा तो दूसरों का ही है!

हाँ, तो उस सन्त ने और जीवन के पारखी सन्त ने, जिसके जीवन में एकरसता आ चुकी थी, बड़ा ही महत्त्वपूर्ण उपदेश दिया कि समदृष्टि जीव कुटुम्ब का प्रतिपालन करता है और सारा उत्तरदायित्व निभाता है, फिर भी अन्दर से उससे अलग रहता है और समझता है कि मैं और हूँ और यह और है। उसके अन्तरतर में एक ज्योति जलती रहती है, जैसे धाय दूसरे

के बच्चे को पालती-पोसती और उस बच्चे के लिए सब कुछ करती है और पन्ना जैसी धाय तो अपने बच्चे को भी होम देती है, मगर तब भी उसके अन्दर भेद-विज्ञान की यह ज्योति जलती ही रहती है कि मैं मैं हूँ और यह यह है। यही गृहस्थ का आदर्श जीवन है। जीवन की यह राह बड़ी ही कठोर है। समुद्र में रहना है और एक पल्ला भी नहीं भीगने देना है और कीचड़ में रहकर कीचड़ का एक कण भी नहीं लगने देना है।

इन दोनों राहों से निराली तीसरी राह और है, पर वह मोक्ष की राह नहीं है। उस राह के राहगीर वे हैं जो अन्दर में वासना का संसार बसाये हैं, किन्तु ऊपर से साधू या श्रावक बने हुए हैं, उनका एक क़दम भी मोक्ष की ओर नहीं पड़ रहा है। वे साधू हैं, फिर भी संसार की ओर भागे जा रहे हैं और यदि गृहस्थ हैं तो भी संसार की ओर भागे जा रहे हैं। उनके मन में भेद-विज्ञान का दार्शनिक स्वरूप नहीं जाग रहा है। जीवन के महत्त्वपूर्ण पार्ट को अदा करने के लिए जितना विवेक होना चाहिए, वह नहीं उपलब्ध हो रहा है। वे जीवन को संसार के भोग-विलासों में ले आते हैं और बाहर में साधु या श्रावक बन कर भटका करते हैं।

एक यात्री होता है, जिसके क़दम अपने लक्ष्य पर पड़ते हैं और दूसरा होता है भटकने वाला। वह परेशान होता हुआ—भागता हुआ दिखाई देता है, किन्तु फिर भी वह यात्री नहीं है।

पुरानी गाथाओं में आता है कि एक आदमी चला जा रहा

है और भाग रहा है और पसीने में तर हो रहा है ! पूछने वाला मालूम करना चाहता है कि वह क्या कर रहा है ? आगे-पीछे क्यों दौड़ रहा है ? तब वह पूछता है—तुम कहां से आ रहे हो ? भागने वाला कहता है—यह तो मालूम नहीं कि मैं कहाँ से आ रहा हूँ !

'अच्छा जा कहां रहे हो ?'

'यह भी मालूम नहीं है !'

'यह दौड़ क्यों लग रही है ?'

'यह भी नहीं मालूम है !'

'अच्छा भाई, तुम हो कौन ?'

'यह भी पता नहीं है !'

तो जिस पागल की यह दशा है, वह हज़ार जन्म ले ले, तो भी क्या अपनी मन्ज़िल को पूरा कर सकेगा ? क्या अपने लक्ष्य पर पहुँच सकेगा ? यह तो भटकना है, लक्ष्य की ओर गति करना नहीं है ।

इस प्रकार साधु के रूप में या गृहस्थ के रूप में जो भटकते हैं, वे जीवन की यात्रा को तय करने के लिए क़दम नहीं बढ़ा रहे हैं, वे सिर्फ भटक रहे हैं । उनकी गति को भटकना कहते हैं, यात्रा करना नहीं कहते ।

आनन्द श्रावक ने कौन-सी राह पकड़ी है ? उसने साधुजीवन की राह नहीं पकड़ी है । उसने अपने आपको परख लिया है कि मेरी क्या योग्यता है और मैं कितना रास्ता तय कर सकता हूँ ?

इसके लिए उसने अपने को जांचा, अपनी दुर्बलताओं का पता लगाया और अपनी बलवती शक्तियों का भी पता लगाया। उसने निर्णय कर लिया कि मैं साधु जीवन की उस ऊँची भूमिका पर चलने के योग्य नहीं हूँ। फिर भी मुझे जीवन की राह तय करनी है। क़दम-क़दम चलूँगा तो भी यात्रा पूरी कर लूँगा, किन्तु जो चलता नहीं और बैठा या भटकता ही रहता है, वह तो कभी यात्रा पूरी कर ही नहीं सकता।

इस प्रकार आनन्द के जीवन की भूमिका बीच की भूमिका है। वह आप लोगों (श्रावकों) की भूमिका है। यदि आप आनन्द के जीवन से अपने जीवन की तुलना करने लगें तो आकाश और पाताल का अन्तर मालूम पड़ेगा, फिर भी उसकी और आपकी राह तो एक ही है। उसको जो दर्जा मिला था, वही दर्जा सिद्धान्ततः आपका भी तो है।

आनन्द श्रावक ने ब्रह्मचर्य की दृष्टि से जो नियम लिया था उसे पूर्ण ब्रह्मचर्य का नियम नहीं कहा जा सकता। उसने सोचा—जब तक मैं गृहस्थावस्था में हूँ, तब तक मुझे दुर्बलताएं घेरे हुए हैं। जब तक मैं अपनी पत्नी का जीवन साथी बन कर रह रहा हूँ, तब तक क़दम-क़दम चल कर ही जीवन की राह तय कर सकता हूँ। इसलिए उसने ब्रह्मचर्य की प्रतिज्ञा तो ग्रहण की, मगर उसने पूर्ण ब्रह्मचर्य की प्रतिज्ञा नहीं ली। उसने निश्चय किया आज से अपनी पत्नी के अतिरिक्त संसार की अन्य सभी स्त्रियों को मैं माता और बहिन समझूंगा।

में, किन्तु पन्ना को देर नहीं लगी। उसने धाय के कर्त्तव्य को अच्छी तरह समझ लिया। एक ओर उसका बच्चा और दूसरी ओर उदयसिंह झूल रहा था। उसे एक ओर अपने प्राणप्रिय बालक की और दूसरी ओर अपने कर्त्तव्य की याद आ गई। उसने अपने कर्त्तव्य को महान् समझा और अपने बच्चे की ओर उंगली उठा दी।

पन्ना का फ़ैसला करना और उँगली उठाना था कि बनवीर की चमकती हुई तलवार बिजली की तरह कौंधती है और उसके बच्चे के दो टुकड़े हो जाते हैं! मगर गज़ब का दिल पाया था पन्ना धाय ने। वह रोती नहीं है और बनवीर को मालूम नहीं होने देती कि उसका बच्चा क़त्ल हो गया है। वह अंधे की तरह ही आया और अन्धे की तरह ही लौट गया!

तो धाय का कर्त्तव्य कितना ऊंचा है। फिर भी वहाँ दो टूक फैसला है कि धाय धाय है और बच्चा उसका बच्चा नहीं है। अन्दर ही अन्दर वह समझती है कि मेरा काम उत्तरदायित्व निभाने का है, आखिर बच्चा तो दूसरों का ही है!

हाँ, तो उस सन्त ने और जीवन के पारखी सन्त ने, जिसके जीवन में एकरसता आ चुकी थी, बड़ा ही महत्त्वपूर्ण उपदेश दिया कि समदृष्टि जीव कुटुम्ब का प्रतिपालन करता है और सारा उत्तरदायित्व निभाता है, फिर भी अन्दर से उससे अलग रहता है और समझता है कि मैं और हूँ और यह और है। उसके अन्तरतर में एक ज्योति जलती रहती है, जैसे धाय दूसरे

के बच्चे को पालती-पोसती और उस बच्चे के लिए सब कुछ करती है और पन्ना जैसी धाय तो अपने बच्चे को भी होम देती है, मगर तब भी उसके अन्दर भेद-विज्ञान की यह ज्योति जलती ही रहती है कि मैं मैं हूँ और यह यह है। यही गृहस्थ का आदर्श जीवन है। जीवन की यह राह बड़ी ही कठोर है। समुद्र में रहना है और एक पल्ला भी नहीं भीगने देना है और कीचड़ में रहकर कीचड़ का एक कण भी नहीं लगने देना है।

इन दोनों राहों से निराली तीसरी राह और है, पर वह मोक्ष की राह नहीं है। उस राह के राहगीर वे हैं जो अन्दर में वासना का संसार बसाये हैं, किन्तु ऊपर से साधू या श्रावक बने हुए हैं, उनका एक क़दम भी मोक्ष की ओर नहीं पड़ रहा है। वे साधू हैं, फिर भी संसार की ओर भागे जा रहे हैं और यदि गृहस्थ हैं तो भी संसार की ओर भागे जा रहे हैं। उनके मन में भेद-विज्ञान का दार्शनिक स्वरूप नहीं जाग रहा है। जीवन के महत्त्वपूर्ण पार्ट को अदा करने के लिए जितना विवेक होना चाहिए, वह नहीं उपलब्ध हो रहा है। वे जीवन को संसार के भोग-विलासों में ले आते हैं और बाहर में साधु या श्रावक बन कर भटका करते हैं।

एक यात्री होता है, जिसके क़दम अपने लक्ष्य पर पड़ते हैं और दूसरा होता है भटकने वाला। वह परेशान होता हुआ—भागता हुआ दिखाई देता है, किन्तु फिर भी वह यात्री नहीं है।

पुरानी गाथाओं में आता है कि एक आदमी चला जा रहा

है और भाग रहा है और पसीने में तर हो रहा है ! पूछने वाला मालूम करना चाहता है कि वह क्या कर रहा है ? आगे-पीछे क्यों दौड़ रहा है ? तब वह पूछता है—तुम कहां से आ रहे हो ? भागने वाला कहता है—यह तो मालूम नहीं कि मैं कहाँ से आ रहा हूँ !

'अच्छा जा कहां रहे हो ?'

'यह भी मालूम नहीं है !'

'यह दौड़ क्यों लग रही है ?'

'यह भी नहीं मालूम है !'

'अच्छा भाई, तुम हो कौन ?'

'यह भी पता नहीं है !'

तो जिस पागल की यह दशा है, वह हजार जन्म ले ले, तो भी क्या अपनी मन्ज़िल को पूरा कर सकेगा ? क्या अपने लक्ष्य पर पहुँच सकेगा ? यह तो भटकना है, लक्ष्य की ओर गति करना नहीं है।

इस प्रकार साधु के रूप में या गृहस्थ के रूप में जो भटकते हैं, वे जीवन को यात्रा को तय करने के लिए क़दम नहीं बढ़ा रहे हैं, वे सिर्फ़ भटक रहे हैं। उनकी गति को भटकना कहते हैं, यात्रा करना नहीं कहते।

आनन्द श्रावक ने कौन-सी राह पकड़ी है ? उसने साधुजीवन को राह नहीं पकड़ी है। उसने अपने आपको परख लिया है कि मेरी क्या योग्यता है और मैं कितना रास्ता तय कर सकता हूँ ?

इसके लिए उसने अपने को जांचा, अपनी दुर्बलताओं का पता लगाया और अपनी बलवती शक्तियों का भी पता लगाया। उसने निर्णय कर लिया कि मैं साधु जीवन की उस ऊँची भूमिका पर चलने के योग्य नहीं हूँ। फिर भी मुझे जीवन की राह तय करनी है। क़दम-क़दम चलूँगा तो भी यात्रा पूरी कर लूँगा, किन्तु जो चलता नहीं और बैठा या भटकता ही रहता है, वह तो कभी यात्रा पूरी कर ही नहीं सकता।

इस प्रकार आनन्द के जीवन की भूमिका बीच की भूमिका है। वह आप लोगों (श्रावकों) की भूमिका है। यदि आप आनन्द के जीवन से अपने जीवन की तुलना करने लगें तो आकाश और पाताल का अन्तर मालूम पड़ेगा, फिर भी उसकी और आपकी राह तो एक ही है। उसको जो दर्जा मिला था, वही दर्जा सिद्धान्ततः आपका भी तो है।

आनन्द श्रावक ने ब्रह्मचर्य की दृष्टि से जो नियम लिया था उसे पूर्ण ब्रह्मचर्य का नियम नहीं कहा जा सकता। उसने सोचा–जब तक मैं गृहस्थावस्था में हूँ, तब तक मुझे दुर्बलताएं घेरे हुए हैं। जब तक मैं अपनी पत्नी का जीवन साथी बन कर रह रहा हूँ, तब तक क़दम-क़दम चल कर ही जीवन की राह तय कर सकता हूँ। इसलिए उसने ब्रह्मचर्य की प्रतिज्ञा तो ग्रहण की, मगर उसने पूर्ण ब्रह्मचर्य को प्रतिज्ञा नहीं ली। उसने निश्चय किया आज से अपनी पत्नी के अतिरिक्त संसार की अन्य सभी स्त्रियों को मैं माता और बहिन समझूंगा।

अब ज़रा विचार कीजिए; कितना ज़हर कम हो गया। ज़हर से भरा एक समुद्र है। उसमें से सारा ज़हर निकल जाय और सिर्फ़ एक बूंद ज़हर रह जाय, तो एक बूंद ज़हर रह तो अवश्य गया, मगर फिर भी यह स्थिति कितनी ऊंची है ? इतनी ऊंची कि उसने समस्त संसार में पवित्रता की लहर दौड़ा दी है। ऐसा व्यक्ति अपने घर में रहता है या नाते-रिश्तेदारों के घर जाता है तो पवित्रता की आँखें रखता है और उसके हृदय से सब स्त्रियों के प्रति मातृभाव और भगिनी भाव का निर्मल झरना बहता रहता है। ऐसी हालत में वह संसार के एक कोने से दूसरे कोने तक कहीं भी चला जाय, तो अपनी स्त्री के सिवाय संसार भर की जो स्त्रियां हैं, उनके प्रति एक ही—माता-बहिन की दृष्टि रक्खेगा। तो उसने कितना ज़हर त्याग दिया है! कितने पवित्र भाव अब उसके मन में आ गये हैं। एक तरह से उसके लिए दुनिया ही बदल गई है।

इस दृष्टि-कोण से अगर विचार करेंगे तो आप को पता चलेगा कि जैन-धर्म की दृष्टि में विवाह क्या चीज़ है! जब कोई व्यक्ति गृहस्थ में रहता है तो विवाह उसके सामने है। पर देखना है कि जब वह विवाह के क्षेत्र में उतरता है तो ब्रह्मचर्य की भूमिका से उतरता है या वासना की भूमिका से उतरता है? यह प्रश्न एक विकट प्रश्न है और महत्त्वपूर्ण प्रश्न है। इसका समाधान प्राप्त करने के लिए अनेक गुत्थियों को सुलझाना पड़ता है और उनके सुलझाने में कभी-कभी बड़े-बड़े विचारक और दार्शनिक भी उलझ

जाते हैं।

दो दार्शनिक कहीं जा रहे थे। दोनों ने गुलाब का एक पौधा देखा। उनमें से एक ने कहा—इस पौधे में कितने सुन्दर और महकते हुए फूल हैं।

दूसरा बोला—पर काँटे देखो न कितने हैं इसमें! ज़रा से पौधे में इतने काँटे!

तो गुलाब का पौधा सामने खड़ा है। उसमें सुगन्धित और सुन्दर फूल भी हैं और नुकीले काँटे भी हैं। किन्तु दो आदमी जब उसके पास पहुँचे तो दोनों के दृष्टिकोणों में अन्तर ज़रूर पड़ गया। एक की दृष्टि फूलों की सुन्दरता और महक की ओर गई है और दूसरे की दृष्टि काँटों की ओर गई है। और इसी दृष्टि भेद को लेकर दोनों दार्शनिकों के बीच कुछ मतभेद हो गया है।

इसी प्रकार जब कोई भी दूसरी वस्तु सामने आती है तो विभिन्न विचारकों में उसको लेकर मतभेद हो जाया करता है। किसी की दृष्टि उस वस्तु के गुणों की ओर और किसी की दृष्टि दोषों की ओर जाती है।

तो हम मालूम करना चाहते हैं कि कोई विवाह के क्षेत्र में प्रवेश करता है तो वह ब्रह्मचर्य की दृष्टि से प्रवेश करता है अथवा वासना की दृष्टि से प्रवेश करता है?

इस प्रश्न का उत्तर एकान्त में नहीं है। विवाह के क्षेत्र में दोनों चीजें हैं-वासना भी है और ब्रह्मचर्य भी है। इस प्रकार दोनों चीज़ों के होते हुए भी, देखना होगा कि वहाँ ब्रह्मचर्य का

अंश अधिक है या वासना का? जब विवाह के क्षेत्र में प्रवेश किया है तो क्या चीज़ अधिक है? यहाँ मैं उसकी बात कर रहा हूँ, जो समझदारी के साथ विवाह के क्षेत्र में प्रवेश कर रहा है। जो जीवन को समझ ही नहीं रहा है और फिर भी विवाह के बन्धन में पड़ गया है, उसकी बात मैं नहीं कर रहा हूँ। तो समझदार के लिए क्या बात है?

भगवान् ऋषभदेव ने सब से पहले विवाह के क्षेत्र में प्रवेश किया। उनसे पहले युगलियों का ज़माना था और उस ज़माने में कुछ और ही तरह का जीवन था। उस समय के विवाह, विवाह नहीं थे। उस समय जीवन के क्षेत्र में दो स्त्री पुरुष साथी बनकर चल पड़ते थे किन्तु सामाजिक संविधान के रूप में विवाह जैसी कोई बात नहीं थी। अस्तु, जैन इतिहास की दृष्टि से, इस अवसर्पिणी काल में, भारत वर्ष में सर्वप्रथम ऋषभदेवजी का ही विवाह हुआ। उन्होंने कहा—यदि तुम किसी को अपना संगी-साथी चुनना चाहते हो, चाहे स्त्री पुरुष को और पुरुष स्त्री को, तो उसे विवाह के रूप में ही चुनना चाहिये। विवाह के अतिरिक्त दूसरे जो भी इस प्रकार के सम्बन्ध हैं, उनमें नैतिकता नहीं है। वहां अनैतिकता है और व्यभिचार है। इस रूप में, विवाह सम्बन्ध में, मधुरता है और मिठास है। इस सम्बन्ध की पवित्र ग्रंथि से बँधे हुए साथियों में, एक दूसरे के जीवन का उत्तरदायित्व ग्रहण करने की बुद्धि है। और वासना की पूर्ति के लिए नहीं, किन्तु जीवन की राह को तय करने के लिए और गार्हस्थ्य जीवन की गाड़ी को ठीक

तरह चलाने के लिए, अर्थात् पुरुष के सुख दुःख को स्त्री ढोये और स्त्री के सुख दुःख को पुरुष ढोये, इस रूप में एक दूसरे की जवाबदारी को निभाने के लिए अगर साथी चुनना चाहते हो तो विवाह के अतिरिक्त जो भी रिश्ता कायम करते हो, उसमें अनैतिकता होगी। वहाँ व्यभिचार का भाव होगा।

विवाह शब्द का क्या अर्थ है? यह संस्कृत भाषा का शब्द है। 'वि' का अर्थ है—विशेष रूप से और 'वाह' का अर्थ है—वहन करना या ढोना। तो विशेष रूप से एक दूसरे के उत्तर-दायित्व को वहन करना, उसकी रक्षा करना विवाह कहलाता है। अर्थात् स्त्री है तो पुरुष के जीवन के सुख-दुःख को वहन करने की कोशिश करे और पुरुष है तो वह—स्त्री के सुख-दुख को और जवाबदारी को वहन करने की कोशिश करे।

और केवल वहन करना ही नहीं है, किन्तु विशेष रूप से वहन करना है, उठाना है, निभाना है और अपने उत्तरदायित्व को पूरा करना है। इतना ही नहीं, अपने जीवन की आहुति दे कर भी वहन करना है।

इस रूप में मैंने कहा है कि विवाह में जहर तो एक बूँद के बराबर है और त्याग की मात्रा समुद्र के बराबर है।

पशु और पक्षी अपनी जीवन यात्रा को तय कर रहे हैं, पर वहाँ विवाह जैसी कोई चीज़ नहीं है। उनकी वासना की लहर समुद्र की तरह लहराती है। किन्तु मनुष्य विवाह करके वास-नाओं के उस लहराते हुए सागर को प्याले में बन्द कर

देता है।

इस प्रकार जब भगवान् ने विवाह करने की बात कही तो जीवन की एक बहुत बड़ी अनैतिकता को दूर करने की बात कही। उन्होंने यह नहीं कहा कि अगर किसी ने विवाह कर लिया तो कोई बड़ा पाप कर लिया। भगवान् ने तो इस रूप में गृहस्थ-जीवन का पवित्र मार्ग तय करना सिखलाया।

मान लीजिए किसी पहाड़ी के नीचे एक बांध बांध दिया गया है। उसमें वर्षा का पानी ढाहें मारने लगता है। यदि बांध उस पानी को पूरा का पूरा हज़म कर सके, तो बांध की दीवारों के टूटने की नौवत न आये और इंजीनियर बांध बनाते समय पानी निकालने का जो मार्ग रख छोड़ता है, उसे भी खोलने की आवश्यकता न पड़े; किन्तु पानी ज़ोरों से आ रहा है और उसकी सीमा नहीं रही है आर बांध में समा नहीं रहा है, फिर भी यदि पानी के निकलने का मार्ग न खोला गया तो बांध की दीवारें टूट जाएँगी और उस समय निकला हुआ पानी का उच्छृंखल प्रवाह बाढ़ का रूप धारण कर लेगा और हज़ारों मनुष्यों को—सैकड़ों गाँवों को बहा देगा, बर्बाद कर देगा। अतएव इञ्जीनियर उस बाँध के द्वार को खोल देता है और ऐसा करने से नुक़सान कम होता है। गाँव बर्बाद होने से बच जाते हैं।

यदि इञ्जीनियर बाँध के पानी को निकलने का मार्ग खोल देता है तो वह कोई अपराध नहीं करता है। ऐसा करने के पीछे एक महान् उद्देश्य होता है। और वह यह कि बाँध सारा का सारा

न टूट जाय और जन-धन का सत्यानाश न हो और भयानक बर्बादी होने का अवसर न आए।

तो यही बात हमारे मन के बाँध की भी है। अगर किसी में ऐसी शक्ति आ गई है और कोई अगस्त्य ऋषि बन गया है कि समुद्र के किनारे बैठे और सारे समुद्र को चुल्लू भर में पी जाय, तो वह समस्त वासनाओं को पी सकता है, हज़म कर सकता है और वासनाओं के समुद्र का शोषण कर सकता है। शास्त्र कहता है कि वह पूर्ण ब्रह्मचर्य का पालन कर सकता है।

सारे समुद्र को और बाँध के पानी को हज़म करने की शक्ति तुझमें है तो तू उसे पी जा; परन्तु ऐसा करने के लिए तुझे अगस्त्य बनना पड़ेगा। और यदि सेर-दो सेर ही पानी तू हज़म कर सकता है और फिर भी अगस्त्य बनने चला है तो तू अपने आप को बर्बाद कर देगा, समाज को और राष्ट्र को भी हानि पहुँचाएगा।

इस प्रकार समस्त वासनाओं को पचा जाने, हज़म करने की जो साधना है, वही पूर्ण ब्रह्मचर्य है। जिसमें वह महा-शक्ति नहीं है, जो समस्त वासनाओं को और विकारों को पचा नहीं सकता, उसके लिए विवाह के रूप में एक मार्ग रख छोड़ा गया है। चारों ओर से अखण्ड दीवारें हैं और एक ओर से, नियत मार्ग से, वासना का पानी बह रहा है, तो संसार में कोई उपद्रव नहीं होता, कोई बर्बादी नहीं होती, सामाजिक बाँध के टूटने की नौबत भी नहीं आती और जीवन की पवित्रता भी सुरक्षित

रहती है।

तो भगवान् ऋषभदेव ने विकारों को पूर्णतया हज़म करने की शक्ति न होने पर मन के बांध में एक 'मोरी' रखने की बात कही है। और वह इस उद्देश्य से कही है कि अपनी बल-बुद्धि को मनुष्य, पशु-पक्षी की तरह काम में न लाने लगे और मानव-समाज की ज़िन्दगी हैवानों की ज़िन्दगी न बन जाय। और इस तरह दूसरे रूप में, ब्रह्मचर्य की रक्षा का भाव विवाह के क्षेत्र में है।

यह मैं पहले ही कह चुका हूं कि जिसने जीवन के और ब्रह्मचर्य के महत्त्व को नहीं समझा है, उसकी बात अलग है। मैं उन हैवानों और पशुओं की बात नहीं कह रहा हूँ, जो मनुष्य की आकृति के हैं और मनुष्य की भाषा बोलते हैं और मनुष्य के ही समान दूसरे व्यवहार करते हैं; फिर भी जिनमें मनुष्यता नहीं, हैवानियत है और जो कुत्तों की तरह गलियों में भटकते फिरते हैं! मैं जीवन के महत्त्व को समझने वाले लोगों की ही बात कहता हूं।

मैंने शास्त्रों का जो चिन्तन और मनन किया है, वह मुझे यह कहने की इजाज़त देता है कि विवाह का रूप यदि ईमानदारी के साथ जवाबदारी को निभाने के लिए ग्रहण किया है, तो वह भी ब्रह्मचर्य की साधना का ही रूप है। विवाह कर लेने पर संसार भर के द्वार बन्द हो जाते हैं और केवल एक ही द्वार खुला रह जाता है। इस रूप में गम्भीर विचार करके जब उसे स्वीकार किया जाता है, तभी विवाह की सार्थकता होती है।

ब्रह्मचर्य के क्षेत्र में प्रवेश कर जाने वाले माता-पिता को भी अपनी सन्तति का विवाह करना पड़ता है। परन्तु शास्त्र में 'परविवाहकरण' नामक एक अतिचार आता है। इसका अभिप्राय यह है कि अगर दूसरों का विवाह किया कराया जाय तो ब्रह्मचर्य की साधना में अतिचार लगता है। एक समय ऐसा आया कि इस अतिचार के डर से लोगों ने अपने पुत्र-पुत्रियों का विवाह करना तक छोड़ दिया। इस प्रकार समाज में एक नया गड़बड़ झाला पैदा हो गया। माता-पिता ने जब अपनी सन्तान की विवाह करने की ज़िम्मेदारी को भुला दिया और इस लिए समाज का वातावरण दूषित होने लगा तो आचार्य हेमचन्द्र ने, उन लोगों को, जो गृहस्थ के रूप में जीवन यापन कर रहे थे, किन्तु अपनी सन्तान के विवाह की जवाबदारी को ढोने से इन्कार कर चुके थे, एक करारी फटकार बतलाई। कहा कि इससे ज्यादा भद्दा और कोई दृष्टिकोण नहीं हो सकता। तुम अपने ब्रह्मचर्य के अतिचार से बचने के लिए अलग खड़े हो गये हो और समाज में दूषित वातावरण पैदा हो गया है, अनैतिकता बढ़ रही है। इसका पाप किसको लग रहा है? जो उत्तरदायित्व को ग्रहण करके भी उसे पूरा नहीं कर रहे हैं, उनके सिवाय और कौन इस स्थिति के लिए उत्तरदायी है?

जिसे सन्तान के प्रति कर्त्तव्यपालन की झंझट में नहीं पड़ना हो उसे विवाह नहीं करना चाहिए और पूर्ण ब्रह्मचर्य का पालन करना चाहिए। उसके लिए यही सर्वोत्तम उपाय है; किन्तु जिस

ने विवाह किया है और सन्तान को जन्म देकर माता या पिता होने का गौरव लिया है, उसने सन्तान का उत्तरदायित्त्व भी अपने माथे पर ले लिया है। अब वह उससे यदि मुकरता है, तो अनीति का पोषण करता है।

हाँ, 'परविवाहकरण' अतिचार से बचने की इच्छा है, तो 'मैरिज़ ब्यूरो' मत खोलो, विवाह की एजेन्सी क़ायम मत करो और बीच के घटक मत बनो। कुछ इससे ले लिया और कुछ उससे ले लिया और बेमेल विवाह करा दिया, यह जो विवाह कराने का धंधा है, यह ग़लत है और यह दोष है। किन्तु इसका मतलब यह नहीं कि अपने पुत्रों या पुत्रियों का विवाह न किया जाय। जैनधर्म ऐसा पागल धर्म नहीं है कि वह समाज से कहे कि उत्तरदायित्त्व को नहीं निभाना चाहिए और जीवन में किसी भी ऊलजलूल मार्ग को अपना लेना चाहिए। जब-जब धर्म के विषय में ग़लतफ़हमियाँ हुई हैं और ऐसी स्थितियाँ आई हैं, धर्म बदनाम हुआ है।

अभिप्राय यह है कि जैनधर्म की दृष्टि में विवाह जीवन का केन्द्रीयकरण है। असीम वासनाओं को सीमित करने का मार्ग है, पूर्ण संयम की ओर अग्रसर होने का क़दम है और पाशविक जीवन में से निकल कर नीतिपूर्ण मर्यादित मानव-जीवन को अंगीकार करने का साधन है। जैनधर्म में विवाह के लिए जगह है, परन्तु पशु-पक्षियों की तरह भटकने के लिए जगह नहीं है। वेश्यागमन और परदारसेवन के लिए कोई जगह नहीं है और इस रूप में

जैनधर्म एक महान् आदर्श उपस्थित कर रहा है।

ब्यावर
११-११-५०

विराट-भावना

आनन्द श्रावक, महाप्रभु महावीर के चरण-कमलों में उपस्थित होकर, आत्मिक आनन्द के मंगलमय द्वार को खोल रहा है। वह आनन्द प्रत्येक आत्मा में अव्यक्त रूप में रहता है, अतः कोई भी आत्मा उससे शून्य नहीं है। फिर भी वह ऐसी चीज़ है कि जितनी निकट है, उतनी ही दूर है। वह हृदय की धड़कन से भी अधिक समीप होकर भी इतनी दूर है कि अनन्त-अनन्त काल बीत जाने पर भी संसारी आत्मा उसके निकट नहीं पहुंच पाई है और उस आनन्द को नहीं प्राप्त कर सकी है।

सच पूछो तो हमारे अपने विचार ही उस आनन्द की उपलब्धि में रुकावट डाल रहे हैं। संसार उस आध्यात्मिक आनन्द को पाने के लिए और अन्दर में छिपे हुए असीम आनन्द के

लहराते हुए सागर में अवगाहन करने के लिए प्रयत्न करता है; किन्तु मिथ्या विचारों की रुकावट खड़ी हो जाती है। जब तक विचारों की रुकावट को दूर न कर दिया जाय, इन टीलों को तोड़ न दिया जाय और ग़लत विचारों के रूप में सामने खड़े पहाड़ों को चकना-चूर न कर दिया जाय, तब तक उस आनन्द के सागर तक पहुँच नहीं हो सकती।

तो आनन्द, आनन्द की प्राप्ति के लिए ग़लत विचारों की दीवारों को तोड़ रहा है। उनमें पहली दीवार थी हिंसा की। एक तरफ़ मनुष्य है और एक तरफ़ उसका संसार है। जहां संसार है, वहाँ सम्बन्ध है। वह सम्बन्ध उसने हिंसा के द्वारा जोड़ा और यह समझा कि हम दूसरों को अपने अधीन बना लें और दूसरों से काम करा लें। दूसरे हमारे नीचे से चलें और हमारे सामने सिर झुका कर चलें और जो इस प्रकार न चलें, उन्हें कुचल दें और बर्बाद कर दें। इस रूप में मनुष्य ने आनन्द और शान्ति प्राप्त करने की चेष्टा की।

मगर मनुष्य की यह चेष्टा ग़लत विचार पर आश्रित थी। इस ग़लत विचार के कारण वह संसार से सीधा स्नेह सम्बन्ध नहीं जोड़ सका; सिर्फ़ ख़ून बहाने का ताल्लुक ही पैदा कर सका। उसके द्वारा दूसरों को आनन्द नहीं मिल सका तो परिणामस्वरूप वह स्वयं भी आनन्द प्राप्त नहीं कर सका। किसी ने कहा है—

सुख दीयां सुख होत है, दुख दीयां दुख होत।

इस तथ्य को स्वीकार करने के लिए भगवतीसूत्र के पन्ने

पलटने की आवश्यकता नहीं है, केवल जीवन के पन्ने पलटने की आवश्यकता है। जो दूसरों को सुख देने को चला, उसने स्वयं आनन्द प्राप्त कर लिया, किन्तु जो दूसरों को दुःख देने के लिए, उनका रक्त बहाने के लिए, चला तो वह बर्बाद हो गया। जहाँ दूसरों के यहाँ हाहाकार है और पड़ौसी के घर में आग लग रही है, तो वह स्वयं कैसे अछूता रह सकता है?

इस रूप में आज तक ग़लत विचारों की जो दीवारें खड़ी हैं, उनमें पहली दीवार हिंसा की है। हिंसा की दीवार उस आनन्द की प्राप्ति में बाधक है। अतएव आनन्द ने उसी को पहले पहल तोड़ा और संसार के साथ प्रेम और शान्ति का सम्बन्ध जोड़ा। वह मानवता का सुखद रूप लेकर आगे बढ़ा, लोगों के आंसुओं के साथ अपने आँसू बहाने के लिए, उनकी मुस्कराहट में अपनी मुस्कराहट जोड़ने के लिए। तभी आनन्द ने सच्चा आनन्द प्राप्त किया।

मनुष्य जब छल-कपट द्वारा दूसरों के साथ सम्बन्ध जोड़ता है, तो उसे वास्तविक आनन्द प्राप्त नहीं होता है। क्योंकि जब वह दूसरों को धोखा देने चलता है तो संसार तो प्रतिध्वनि का कुँआ है। आप कुँए के पास खड़े होकर, उसकी तरफ़ मुँह करके, जैसी ध्वनि निकालेंगे, वैसी ही ध्वनि आपको सुनाई देगी। गाली देंगे तो वापिस गाली ही सुनने को मिलेगी और यदि प्रेम का संगीत छेड़ेंगे तो वही आपको भी सुनाई देगा। तो यह संसार भी ऐसा ही है। वाणी में जिन विचारों का रूप व्यक्त किया जायगा और जो दृष्टि बनाकर संसार के सामने खड़े हो जाओगे, उसकी

प्रतिक्रिया ठीक उसी रूप में आपके सामने आएगी। तो जो धोखा और फ़रेब लेकर संसार के सामने खड़े होते हैं, उन्हें बदले में वही धोखा और फ़रेब मिलते हैं। तो जो संसार को आग में जलाना चाहेंगे वे स्वयं भी उस आग की लपटों से झुलसे बिना नहीं बच सकेंगे।

एक व्यक्ति का संसार के साथ क्या सम्बन्ध है ? इस दिशा में कुछ दार्शनिकों ने बतलाया है कि उसका यह सम्बन्ध प्रतिविम्ब और प्रतिविम्बी जैसा है। अर्थात् एक मनुष्य का अपने आस-पास के संसार पर प्रतिविम्ब पड़ता है और जैसा प्रतिविम्ब वह डालता है वैसे ही स्वरूप का दर्शन उसे होता है। मान लीजिए, आपके हाथ में दर्पण है। आप उसमें अपना मुंह देखना चाहते हैं। तो मुंह की जैसी आकृति बना कर आप दर्पण में डालेंगे वैसी ही आकृति आपको दिखाई देगी। चेहरे से भयंकरता बरसा कर देखेंगे तो भयंकर रूप दिखाई देगा और देवता जैसा सौम्य रूप बनाकर देखेंगे तो देवता जैसा ही रूप दिखाई देगा। दर्पण में जैसा भी रूप आप व्यक्त करेंगे, वैसा ही आपके सामने आजाएगा।

अगर आप दर्पण को दोष दें कि उसने मेरा विकृत रूप क्यों दिखाया ? मेरा साफ़ चेहरा क्यों नहीं दिखलाया ? और आप उस पर गुस्सा करें तो गुस्सा करने से भी समस्या हल होने वाली नहीं है। आप उसे तोड़ दें तो भी हल मिलने वाला नहीं है। आप दर्पण में अपना सौन्दर्य देखना चाहते हैं, चेहरे की खूबसूरती देखना चाहते हैं और सौम्य भाव देखना चाहते हैं,

तो इसका एक ही उपाय है। आप अपने मुख को शान्त और सुन्दर रूप में दर्पण के सामने पेश कीजिए। दर्पण के सामने शान्त रूप में खड़े होंगे तो वही शान्त रूप आपको देखने को मिलेगा।

व्यक्ति का सम्बन्ध संसार के साथ प्रतिविम्ब-प्रतिविम्बी का सम्बन्ध है। जैन-धर्म ने इस सत्य का उद्घाटन बहुत पहिले ही कर दिया है—

तू संसार को जिस रूप में देखना चाहता है, पहले अपने आपको वैसा बना ले! तेरे मन में हिंसा है तो संसार में भी तुझे हिंसा मिलेगी। तेरे मन में असत्य है तो तुझे असत्य ही मिलेगा। और यदि तेरे मन में अहिंसा और सत्य है तो तुझे भी अहिंसा और सत्य के ही दर्शन होंगे। यही बात अस्तेय और ब्रह्मचर्य आदि भावनाओं के सम्बन्ध में भी है।

हाँ तो प्रत्येक साधक को सर्वप्रथम हिंसा की दीवार तोड़नी होती है। उसके बाद असत्य, स्तेय और अब्रह्मचर्य की दुर्भेद्य दीवारों को भूमिसात् करना होता है। यदि साधक साधु है तो उक्त दीवारों को पूर्णतया तोड़ डालता है। यदि साधक गृहस्थ है तो वह अंशतः तोड़ता है। पूर्णतः या अंशतः तोड़ना आवश्यक है। इनको तोड़े विना आत्मा की स्वतंत्र स्थिति का आनन्द वह प्राप्त नहीं कर सकता।

प्रस्तुत प्रसंग ब्रह्मचर्य का है। अस्तु जब साधक अब्रह्मचर्य की दीवार को तोड़ कर अपने आपको ब्रह्मचर्य की आनन्द भूमि में ले आता है तो वह संसार को वासना की आँखों से देखना

बन्द कर देता है, दूषित भावनाओं को तोड़ डालता है, संसार भर की स्त्रियों के साथ अपने को एक सात्विक एवं पवित्र सम्बन्ध से जोड़ लेता है। फिर वह जहाँ भी पहुँचता है, हर घर में, हर परिवार में, हर समाज में सर्वत्र पवित्र भावनाओं का वातावरण स्थापित करता है और भूमंडल पर एक महान् स्वर्गीय राज्य की अवतारणा करता है।

यह ब्रह्मचर्य की महान् एवं विराट साधना है। ब्रह्मचर्य की साधना किस रूप में होती है, इस सम्बन्ध में छोटी-मोटी बातें मैं कह चुका हूँ। यह भी कह चुका हूँ कि ब्रह्मचर्य का अर्थ है—ब्रह्म में अर्थात् परमात्मा में विचरण करना। ब्रह्म महान् है, बड़ा है। ब्रह्म से बढ़ कर और कौन महान् है? भारतीय दर्शनों के, जिनमें जैनदर्शन भी सम्मिलित है, ईश्वर के रूप में जो विचार हैं, वे जीवन की आखिरी पवित्रता के रूप में हैं, जहाँ एक भी अपवित्रता का अंश नहीं रहता। वह पवित्रता ऐसी पवित्रता है, जो अनन्त-अनन्त काल गुज़रने के बाद भी अपवित्र नहीं बनती है। उसी अखण्ड और अक्षय पवित्रता का नाम जैनों की भाषा में ईश्वर, सिद्ध बुद्ध, परमात्मा और मुक्त आदि है। उस के हज़ारों नाम भी रख छोड़ें तो भी क्या, पर भगवान् एक अखण्ड पवित्रता स्वरूप है और वह पवित्रता कभी मलिन नहीं होने वाली है। एक बार वासना हट गई और शुद्ध स्वरूप प्रकट हो गया तो फिर कभी उस पर वासना का प्रहार नहीं होने वाला है। इस प्रकार ब्रह्म से बढ़ कर कोई नहीं है। उस महान्-ब्रह्म में विचरण करना या

ब्रह्म अर्थात् शुद्ध स्वरूप के लिए चर्या करना ब्रह्मचर्य कहलाता है।

मनुष्य इस विशाल और विशद कल्पना और महान् भावना को लेकर चलता है, तभी वह ब्रह्मचर्य के जीवन में सफल हो सकता है। जब तक उसकी दृष्टि के सामने महान् भावना और उच्च कल्पना नहीं है, तब तक वह चाहे कि मैं ब्रह्मचर्य की साधना को सम्पन्न कर लूँ, तो वह ऐसा नहीं कर सकता, क्योंकि उसके जीवन का दृष्टिकोण छोटा रह गया है, क्षुद्र रह गया है। जिस साधक की भावनाओं के सामने महान् जीवन है, अर्थात् सर्वोत्तम जीवन की कल्पना है, उसी की साधना महान् बनती है।

तो जो महान् है, वृहत् है, वही आनन्दमय है। और जो क्षुद्र है, अल्प है, वह आनन्दमय नहीं है। इस दृष्टिकोण से जब हम पिण्ड की ओर देखते हैं अथवा इस पिण्ड की आवश्यकताओं की ओर दृष्टिपात करते हैं तो खाने, पीने और पहरने की कल्पनाएँ बहुत छोटी-छोटी और मामूली जान पड़ती हैं। इस पिण्ड की ज़रूरतें और उनकी पूर्ति के साधन क्षणभंगुर हैं। आज मिले हैं और कल समाप्त हो जाने वाले हैं। अभी हैं और अभी नहीं हैं। सुन्दर से सुन्दर भोज्य पदार्थ सामने आया, उसे हाथ में लिया और जब तक जीभ पर नहीं रक्खा, उसकी मधुरता का आनन्द नहीं आया। जब जीभ पर रक्खा, तभी कुछ ही क्षण तक, वह सुन्दर रहा, मधुर मालूम हुआ, किन्तु ज्यों ही गले के नीचे उतरा, त्योंही उसकी सुन्दरता और मधुरता फिर ग़ायब हो गई।

तो मिठास का आनन्द न पहिले है और न बाद में है। वह

बीच में हमारी ज़बान की हद तक ही है। यह क्षणभंगुर आनन्द, आनन्द नहीं है। कम से कम उससे पहले और उसके पश्चात् आनन्द नहीं है। जो चीज़ क्षणभंगुर है, पल भर में विलीन हो जाने वाली है, उसमें सच्चा आनन्द नहीं मिल सकता।

कल्पना कीजिए, आप घर में एक सुन्दर जापानी खिलौना लेकर पहुँचते हैं। ज्योंही आपने देहली के भीतर पैर रक्खा और बालकों की निगाह खिलौने पर पड़ी कि एक हंगामा मच गया। एक कहता है यह खिलौना मुझे चाहिए और दूसरा कहता है मुझे चाहिए। अब आप देखिए कि खिलौना तो एक है और लेने वाले अनेक हैं। सब के सब बच्चे खिलौना लेने के लिए आतुर और व्यग्र हैं। सब आपके ऊपर झपटते हैं, आपको परेशान कर देते हैं। तब आपको आवेश आ जाता है। आप सोचते हैं—किसको दूँ; और किसको न दूँ? फिर आप उन बच्चों को डाट फटकार बतलाते हैं। और अन्त में उनमें से एक को आप खिलौना दे देते हैं। तब क्या होता है? उस बालक को तो आनन्द होता है और दूसरों के दिलों में आग-सी लग जाती है।

और यह बात यहीं समाप्त नहीं हो जाती। जब एक बालक खिलौने से खेलता है, तो दूसरे छीना झपटी करते हैं और नतीजा यह होता है कि खिलौना टूट जाता है। तब खिलौने में आनन्द मानने वाला वह बालक रोने लगता है और छटपटाता है। ऊपर से आप उसे कटु वाक्य-बाणों से बींधते हैं—नालायक़ कहीं का! अभी लिया और अभी तोड़ कर ख़त्म कर दिया।

तो इस खिलौने के पीछे आनन्द की एक पतली-सी धार आई ज़रूर, मगर, उसका मूल्य क्या है? उसके पहले भी दुःख है और उसके बाद में भी दुःख है। बीच में थोड़ी देर के लिए आपके मन में आनन्द की कल्पना हुई, मगर उससे पहले और उसके बाद में तो दुःख ही रहा।

क्षण-भंगुर चीज़ों में बिजली की चमक है; वह स्थायी प्रकाश नहीं है। ध्यान रहे कि मैं आकाश में चमकने वाली बिजली की बात कर रहा हूँ।

दृष्टि-कोण यह है कि मनुष्य पिण्ड की ओर जाता है और उसे आनन्द देता है तो वह छोटी-मोटी ज़रूरतों को पूरा करता है। किन्तु नश्वर वस्तुओं से वास्तविक आनन्द प्राप्त नहीं हो सकता। क्योंकि वास्तविक आनन्द अविनश्वर है—अजर-अमर है और वह क्षुद्र रूप में नहीं रहता है। अतः वह नश्वर वस्तुओं से कैसे प्राप्त हो सकता है।

अतएव वह आनन्द की वृहत् कल्पना साधक के सामने है। उसकी ओर साधक का जो गमन है, उसी को हम ब्रह्मचर्य कहते हैं।

अभिप्राय यह है कि ब्रह्मचर्य की साधना के लिए, जीवन के सामने बहुत बड़ा आदर्श रखना है और जिसके सामने वह वृहत्तर आदर्श रहेगा वही ब्रह्मचर्य में अविचल निष्ठा प्राप्त कर सकेगा।

जिस साधक के समक्ष जीवन की बहुत बड़ी कल्पना रहती है, वह उस वृहत्तर कल्पना को लक्ष्य बना कर दौड़ता है और

अपनी सारी शक्ति लगा देता है। सारा का सारा जीवन उसके पीछे समाप्त कर देता है। फलतः संसार की वासना उसे याद नहीं आती है।

और जब जीवन क्षुद्र रहता है और उसके सामने कोई उच्चतर ध्येय नहीं होता, तो वहाँ वासना के कुत्ते भौंकते रहते हैं और इच्छाओं की बिल्लियाँ नोचानाची करती रहती हैं, मन में कुहराम मचा रहता है। वहाँ अन्तरात्मा की वाणी को ये कुत्ते दबा लेते हैं।

जब वासना की आवाज़ क्षीण होती है और अन्तरात्मा की आवाज़ तेज़ होती है तो वासना चुप हो कर बैठ जाती है।

तो संसार में जितने भी महापुरुष हो चुके हैं, उन्हें आप ध्यान में लाएँगे तो, मालूम होगा कि उन्हें घर याद नहीं आया। भगवान् महावीर भर जवानी में घर छोड़ कर निकले। संसार का समस्त वैभव उन्हें सुलभ था। फिर भी उन्होंने दीक्षा ग्रहण की। यदि कोई पूछता उनसे कि कभी घर की याद आई ?

उत्तर मिलता—नहीं याद आई।

प्राप्त की हुई चीज़ और भोगी हुई चीज़ क्यों याद नहीं आई ? वे सोने के सिंहासन और दर्शकों की आँखों को चकाचोंध कर देने वाले महल उन्हें क्यों याद नहीं आये ?

साधुवृत्ति ग्रहण करने के बाद देवता डिगाने को आये और डराने लगे कि टुकड़े-टुकड़े कर देंगे ! और जैसे एक हाथी, चींटी को मसलता है, देवताओं ने भयंकर रूप बना कर भगवान्

को तकलीफ़ दी ! उस समय उनसे पूछा होता कि राजमहल का आनन्द याद आया या नहीं ?

और अपसराएँ स्वर्ग से उतर-उतर कर, छह-छह मास तक अपनी पायलों की झन्कार करती रहीं, तब पूछते कि घर की याद आई कि नहीं ?

तब भी उत्तर मिलता—नहीं आई ।

तब प्रश्न खड़ा होता है—याद न आने का कारण क्या है ? कारण यही कि जीवन की महान् धारणा उनके सामने थी, अपने आत्मकल्याण की और जीवन कल्याण की भावना उनके सामने थी और संसार की बुराइयों से उन्हें लड़ना था । तो वह पहले अपने मन से लड़े । उन्होंने मन के मन्दिर में झाड़ू दी और एक भी धूल का कण नहीं रहने दिया । और उस पवित्रता के महान् आदर्श को दृष्टिपथ में रखते हुए, जहाँ भी गये वहाँ के वायुमण्डल को साफ़ करते गये । जहाँ घृणा और द्वेष की आग लग रही थी, वहाँ स्वयं उसे बुझाने के लिए गये । इस पवित्रता की साधना में उनकी सारी शक्तियाँ इस प्रकार निरन्तर व्यस्त रहती थीं कि उन्हें घर की याद करने के लिए अवकाश ही नहीं था ।

अगर वे क्षुद्र विचारों के पिण्ड में बँधे रहते तो उन्हें घर की याद आती । यह नहीं हो सकता कि मिट्टी के घर में रह कर मिट्टी के घर को याद न करें । जब याद करते हैं तो उसकी ज़रूरतें भी याद आ जाती हैं ! किन्तु वे महान् साधक उसमें रहते हुए भी विचारों की इतनी ऊँचाई पर पहुँच चुके थे और पिण्ड से

इतने ऊँचे उठ गये थे कि शुद्ध लक्ष्य का महान् सूर्य ही उनके सामने चमकता रहा। यही कारण था कि दुःख आया तो दुःख में और सुख आया तो सुख में भी वे एक रस रह कर चलते रहे और चलते ही रहे। संसार की वासनाओं ने उन्हें रोकने की कोशिश की किन्तु उनको भेद कर भी वे चलते रहे।

एक विद्यार्थी अध्ययन करता है। यदि उसके मानस नेत्रों के समक्ष कोई महान् उज्ज्वल लक्ष्य चमकता है, यदि उसके स्वप्न विराट हैं, यदि उसका आदर्श कोई न कोई विराट युग-पुरुष है, तो वह एक दिन अवश्य महान् बनकर रहेगा। संसार की क्षुद्र वासनाएँ उसे घेरे में न रख सकेंगी, उसके विकास पथ को अवरुद्ध नहीं कर सकेंगी। जिसका मन प्रतिक्षण विराट एवं भव्य संकल्पों की ज्योति से जगमगाता रहता है वहाँ वासनाओं का अन्धकार भला कैसे प्रवेश पा सकता है। और तो क्या, वास-नाओं की क्षणिक स्मृति तक के लिए भी वहाँ अवकाश नहीं है। इसके विपरीत यदि उसके संकल्प क्षुद्र हैं, यदि जीवन की ऊँचाइयों की ओर उसकी नज़र नहीं है, तो वह क़दम क़दम पर वासनाओं की ठोकरें खाएगा, औंधे मुँह गिरेगा, और जीवन क्षेत्र में किसी भी काम का न रहेगा। जिसका मन जीवन की भव्य कल्पनाओं से सर्वथा खाली पड़ा है, वहाँ वासनाओं का अन्धकार प्रवेश करता है, अवश्य करता है। क्षुद्र मन में ही वासनाओं की स्मृतियाँ डेरा डालती हैं।

भारत के अन्यतम दार्शनिक वाचस्पति मिश्र के विषय में एक

प्रसिद्धि है। जब उनका विवाह हुआ तो अगले दिन ही उन्होंने ब्रह्मसूत्र के शांकर-भाष्य पर टीका लिखना शुरू कर दिया। वे दिन-रात टीका लिखते और विचारों में डूबे रहते। परन्तु उनकी सुशील और चतुर नवोढ़ा पत्नी ने उनके इस नियम में कुछ भी बाधा न दी। वह तो और अधिक उनकी सेवा में रत रहने लगी। दिन छिपने को होता तो अन्धकार को दूर करने के लिए वह दबे पैरों वहाँ आकर दीपक जला जाती।

मिश्रजी तन्मयभाव से लिखने में संलग्न रहते और उन्हें पता ही न चलता कि दीपक कब और कौन जला गया है। इस प्रकार बारह वर्ष निकल गये और यौवन की वह तूफ़ानी हवा, जो ऐसे समय में दो युवक-हृदयों में बरबस बहने लगती है, वहाँ न बह सकी। टीका की समाप्ति का समय आया, तब एक दिन दीपक जलाया गया और वह बुझ गया। जब पत्नी उसे जलाने आई तो वाचस्पति मिश्र ने देखा—वह साध्वी के रूप में रह रही है और उसने अपने जीवन को दूसरे ही रूप में ढाल दिया है। उसके मुख पर दृष्टि पड़ी तो एक अलौकिक तेज से उसे विभूषित पाया। तब उन्होंने पूछा—तुमने ऐसा जीवन क्यों बना रक्खा है?

पत्नी ने सन्तुष्ट भाव से कहा—आपके उद्देश्य की सिद्धि के लिए मैं बारह वर्ष से यह साधना कर रही हूँ।

मिश्र चकित रह गये और गद्‌गद् स्वर में बोले—सचमुच तुम्हारी साधना के बल से ही मैं इस महान् ग्रन्थ को पूरा कर

सका हूँ। अगर हम संसार की वासनाओं में फँसे होते तो कुछ भी नहीं कर सकते थे। किन्तु अब वह चीज़ लिखी है कि जो तुमको और मुझको असर कर देगी। मैं इस टीका का नाम तुम्हारे नाम पर 'भामती' रखता हूँ।

तो वाचस्पति ने ब्रह्मसूत्रशांकर भाष्य पर जो 'भामती' टीका लिखी है, वह आज भी विद्वानों के लिए एक गम्भीर चिन्तन का विषय बन कर रह गई है। पढ़ते समय आदमी उसमें इस प्रकार डूबा रहता है कि वासना क्या संसार का कोई भी प्रलोभन उसे उससे दूर नहीं हटा सकता। वह उसे तन्मय होकर पढ़ता ही चला जायगा।

आशय यह है कि वाचस्पति के सामने यदि वह ऊँची दार्शनिक भावना न होती और ऊँचा संकल्प न होता तो क्या आप समझते हैं कि वह इतनी महान् कृति जगत् को भेंट कर सकता? नहीं, वह भी साधारण व्यक्तियों की तरह वासना में भटक जाता और जीवन को समाप्त कर देता।

इस प्रकार जिसे ब्रह्मचर्य की साधना के प्रशस्त पथ पर प्रयाण करना है, उसे अपने समक्ष कोई विराट और महान् उद्देश्य रख लेना चाहिए। वह आदर्श सामाजिक भी हो सकता है, राष्ट्रीय भी हो सकता है, आध्यात्मिक भी हो सकता है और साहित्यिक भी हो सकता है। जब आपके सामने उच्च आदर्श होगा और विराट प्रेरणा होगी तो जीवन भी विराट बनेगा और ब्रह्मचर्य की साधना भी सरल बन जाएगी। उस स्थिति में

वासनाएँ इधर-उधर भाग जाएँगी।

यूरोप के एक वैज्ञानिक विद्वान की बात कहता हूँ। वह अपने यौवन काल से पहले ही विज्ञान की किसी साधना में लगा और लगा रहा और संसार को विज्ञान के नये-नये नमूने देता रहा। इस रूप में उसका यौवन आकर चला गया और बुढ़ापे ने जीवन में प्रवेश किया। तब उसे कोई मिला और उसने पूछा—आपके परिवार का क्या हाल है?

वैज्ञानिक ने कहा—परिवार? मेरा परिवार तो मैं ही हूँ या ये यंत्र हैं, जो मेरा मन बहलाया करते हैं।

प्रश्न किया गया—क्या विवाह नहीं किया है?

वैज्ञानिक—मैं तो तुम्हारे कहने से ही आज विवाह की बात याद कर रहा हूँ। अभी तक मुझको विवाह याद ही नहीं आया। और उसकी याद इसलिए नहीं आई कि मनुष्य का मन एक साथ दो-दो चार-चार काम नहीं कर सकता है। मन के सामने एक ही काम जीवन का महत्त्वपूर्ण होता है। मैं जिस साधना में लगा, उसमें इतना ओतप्रोत रहा और डूबा रहा कि मैं दूसरे संकल्प की ओर तो ध्यान ही न दे सका। मैंने जो वस्तु संसार के सामने रक्खी है, उसी के कण-कण में मेरी समस्त संकल्प शक्ति व्याप्त हो रही थी। तुमने बड़ी भूल की, जो विवाह का नाम याद दिला दिया!

मैं समझता हूँ कि यह कोई अलंकार की बात नहीं है। यह जीवन की सचाई और मन की पवित्रता का महान् रूपक आपके

सामने है। इस प्रकार की एकनिष्ठा के बिना जीवन में उच्चता प्राप्त नहीं होती। चाहे कोई गृहस्थ हो या साधु, यदि ब्रह्मचर्य की साधना करना चाहता है तो कोई छोटी-मोटी दूकान लेकर बैठने से काम नहीं चलेगा। छोटी-मोटी बातें लेकर उपदेश करने से भी जीवन का ध्येय सिद्ध नहीं होगा। उसे ज्ञान की बृहत् साधना में पैठना पड़ेगा। जिनके जीवन में ऊँची भावना नहीं है जिनके जीवन को समन्तभद्र और भद्रबाहु जैसे महान् आचार्यों की ओर से प्रेरणा शक्ति नहीं मिल सकी है, वे किस प्रकार ब्रह्मचर्य की साधना करेंगे? हजारों वर्ष पहले भद्रबाहु और समन्तभद्र आदि की वे विचारधाराएँ प्रवाहित हुईं, जो आज भी शास्त्रों के रूप में जनता को कल्याण-पथ की ओर ले जा रही हैं। जिसने उन महान् आचार्यों से सम्बन्ध नहीं जोड़ा है, जिसने ज्ञान की उपासना में अपने मन को नहीं पिरो दिया है और वृहत्तर भावना के रंग में मन को नहीं रंग लिया है, उसका ब्रह्मचर्य कैसे चमकेगा? केवल प्रतिज्ञा ले लेने से ही ब्रह्मचर्य की साधना सफल नहीं हो सकती। उसके लिए तो जीवन का कण-कण लगाना पड़ता है।

जो जितना स्वाध्यायशील होता है, जो महान् आचार्यों के आदर्श की ओर ध्यान लगाता है और जो निरन्तर विराट बनने की कल्पना को अपने सामने रखता है और महान् शास्त्र-कारों के शास्त्रों और भाष्यों को पढ़ने की योग्यता हासिल कर लेता है—उनके पवित्र सौरभ को सूंघने के योग्य अपने आपको

बना लेता है, वही जीवन में सशक्त शान्ति प्राप्त कर सकता है। फिर जीवन में जो जवानी की तूफ़ानी हवाएँ चलती हैं—वे हवाएँ जो मनुष्य को घेर लेती हैं, नहीं घेर सकेंगी। और जवानी का तूफ़ान एक बार निकला तो निकला।

मैं एक जगह गया था। वहाँ मैंने कुछ नौजवान साधुओं को देखा; जिन्होंने दो-चार वर्ष पहिले दीक्षा ली थी। मैंने देखा कोई शेर याद कर रहा है, कोई चौपाई रट रहा है, कोई दृष्टान्त घोट रहा है और कोई दोहे कंठस्थ कर रहा है! मैंने उनसे कहा—यह क्या कर रहे हो? तुम जीवन के महान् क्षेत्र में आये हो और यहाँ कबाड़ी की दूकान लगा कर बैठ गये हो। तो यह क्या कर रहे हो? तुम उच्च कोटि के प्राकृत और संस्कृत भाषा के साहित्य का, इस उम्र में अध्ययन नहीं करोगे तो क्या बुढ़ापे में? यह तुम्हारा क्षुद्र उपक्रम साहित्य में क्या काम आयेगा। यह ठीक है कि उनका उपयोग किया जा सकता है किन्तु उनको अभी से लेकर बैठ जाना तो अपने विकास के पथ में पहले ही दीवाल खड़ी कर लेना है! आपको उस दिव्य जीवन की ओर चलना है तो विराट भावना लेकर आगे बढ़ो। इस प्रकार के क्षुद्र संकल्पों से उस ओर नहीं बढ़ा जा सकेगा।

आप लोगों (श्रावकों) की ओर से ऐसे मुनियों को पहले ही प्रतिष्ठा मिल जाती है। आप उन्हें 'पण्डितरत्न' और इससे भी बड़ी-बड़ी उपाधियाँ दे डालते हैं तो उनके विकास में बाधा पड़ जाती है। अनायास मिली हुई सस्ती प्रतिष्ठा उन्हें आत्म-

विस्मृत बना देती है। वे समझने लगते हैं कि वास्तव में वे इतने योग्य बन गये हैं कि अब आगे क़दम बढ़ाने की कोई आवश्यकता ही उनको नहीं रह गई है। तो इसमें साधुओं का, जो अपनी वास्तविकता को भूलते हैं, दोष तो है ही, किन्तु आपका भी दोष कम नहीं है। जब तक इस भूल को भूल नहीं समझ लिया जायगा और इस स्थिति में परिवर्तन नहीं लाया जायगा, तब तक साधु-समाज में वह विराट महत्ता नहीं आ सकती, जिसे उनमें आप देखना चाहते हैं और उनसे जिसकी अपेक्षा रक्खी भी जाती है।

आज हालत यह है कि हमारे सामने समाज के जो युवक आते हैं, वे अध्ययन में, चिन्तन में और विचार में इतने आगे बढ़ गये हैं कि साधु उनसे पीछे रह गये हैं, जो महावीर, गौतम और जिनभद्र की गद्दी पर बैठे हैं। इस प्रकार सुनने वाले ऊँचे हैं और सुनाने वाले नीचे रह गये हैं। इस स्थिति में उनकी आवाज़ सुनने वालों के मनों को किस प्रकार प्रभावित कर सकेगी। और आपके धर्म की चमक आपके ध्यान में कैसे आएगी ? अतएव यदि आपको जनता का जीवनस्तर ऊँचा उठाना है; और जनता को ठीक शिक्षा देनी है तो साधुसमाज को ऊँचा उठाने की कोशिश करनी होगी। साधुओं को उच्चशिक्षा देने की व्यवस्था करनी होगी, जिससे कि उनका मापदण्ड छोटा न रह जाय ! अगर साधुगण उच्च शिक्षा से विभूषित न हुए और उनकी योग्यता, आज की तरह ही घनी रही तो भविष्य में ऐसा समय आने वाला है कि सम्भवतः साधुसंस्था को ख़त्म होना पड़े या उनकी

संख्या नगन्य रह जाय।

जनता के मन में अब साधुओं के लिए जगह नहीं है। हाँ, कुछ साधु हैं, जिनके लिए जगह है, किन्तु दूसरों के लिए नहीं है। तो जनता के मानस में स्थान पाने के लिए साधुओं के ज्ञान और चरित्र का स्तर ऊँचा होना चाहिए।

और इस रूप में साधुओं के सामने एक बृहत् कल्पना आनी चाहिए, ताकि वह अपने अध्ययन, चिन्तन और विचारों में गहरे पैठ सकें और इस रूप में पैठेंगे तो ब्रह्मचर्य देवता के दर्शन दूर नहीं हैं। क़दम-क़दम पर ब्रह्मचर्य उनके साथ में चलेगा और वे जहाँ कहीं भी पहुँचेंगे तो अपने धर्म और समाज को चमका सकेंगे।

आप गृहस्थों के लिए भी यही बात है। आप अपने बच्चों को बनाना चाहते हैं किन्तु उनको बनाने के लिए करते क्या हैं? आज आप उन्हें चार जमात पढ़ा रहे हैं और दूकान की गद्दी पर बैठा रहे हैं और सिखा रहे हैं कि लूटो दुनिया को! आप दस के सौ लिखने की कला सिखा रहे हैं। लेकिन अस्तेयव्रत का निरूपण करते समय मैं कह चुका हूँ कि व्यापारी का यह कर्त्तव्य नहीं है। वेद, पुराण, उपनिषद् और आगम के काल में व्यापारी देश के उत्तरदायित्व को वहन करते रहे हैं। उस समय राजा तो राजा ही रहा। जब देश के ऊपर शत्रुओं का आक्रमण हुआ तो उसने दो-चार तलवार के हाथ चला दिये, किन्तु देश में भव्य प्रासाद खड़े करने वाले और लक्ष्मी के बड़े-बड़े भण्डार भरने

वाले कौन थे ? वे राजा नहीं, व्यापारी ही थे। व्यापारियों ने ही देश को समृद्ध बनाया है, धन-धान्य से परिपूर्ण बनाया है और देश के गौरव को चार चाँद लगाये हैं। देश में जो रौनक़ आई, वह व्यापारियों की बदौलत ही आई। उनके जहाज़ों की पताकाएँ फ़िलीपाइन, जावा, सुमात्रा, चीन, जापान तक फहराई हैं। उन्होंने दुनिया की ज़रूरतों को पूरा किया है और अपनी ज़रूरतों को भी पूरा किया है।

तो सच्चा व्यापारी वही है जो अपने आपको भी ऊँचा बना ले और दूसरों की झोंपड़ी को भी महल बना दे। और जब तक इस दृष्टि से व्यापारी चला तब तक बड़ा बना रहा। उसकी भरी जवानी है और विवाह करके लौटा है, किन्तु अभी क़ाफ़िले के साथ जा रहा है और आ रहा है बारह या चौबीस वर्ष के बाद। और उधर उसकी पत्नी जीवन की ऊँचाई पर बैठी है और साध्वी के समान जीवन-यापन कर रही है ! जब वह लौटा तो जीवन की पवित्रता लेकर लौटा, किन्तु कलंक लेकर नहीं लौटा।

भारत का व्यापारी जब तक इस रूप में रहा, भारत का चिन्तन बढ़ता गया और उस चिन्तन ने भारत का निर्माण किया। किन्तु आज व्यापारी चल रहे हैं तो घेरा बनाकर चल रहे हैं और तलाइयों का पानी पी रहे हैं, जिनमें हज़ारों कीटाणु हैं और वे जीवन को क्षीण बनाने वाले हैं। किन्तु फिर भी उसे पीते जा रहे हैं और समझते हैं कि बहुत लक्ष्मी इकट्ठी कर रहे हैं।

अपने पूर्वजों की ओर देखोगे तो कीड़ों-मकोड़ों के समान मालूम होओगे। जो लक्ष्मी के पुत्र हैं और दीपावली के दिन कल्दारों के ऊपर मत्था टेकने वाले हैं और जो दूकानों में 'शुभ लाभ' लिखने वाले हैं, वे कभी सोचते भी हैं कि लाभ से पहिले 'शुभ' क्यों लिखते हैं ? इसका अर्थ तो यह है कि जीवन में जो लाभ हो, वह शुभ के साथ होना चाहिए। उस लाभ को अगर ख़र्च किया जाय तो शुभ में ही ख़र्च किया जाय और जब प्राप्त किया जाय तो शुभ प्रयत्नों से जनता का अकल्याण न करके प्राप्त किया जाय, तभी वह लाभ शुभ लाभ हो सकता है। लेकिन वह तो केवल लिखने के लिए ही रह गया है और जीवन में कोरा लाभ ही रह गया है, उसमें शुभ के लिए कोई गुन्जाइश नहीं रक्खी गई है।

तो मैं यह बतलाना चाहता हूँ कि जीवन में महान् प्रेरणाएँ क्यों नहीं आ रही हैं ? क्यों अपनी सन्तान के प्रति और अपने भाइयों के प्रति अविश्वास बढ़ता जा रहा है ? मुझे मालूम है कि युद्धकाल में एक व्यापारी ने बहुत ज्यादा कमाया। छोटा भाई, जो धूर्तता की कला में कुशल था और जिसका दिमाग़ खूब तेज़ था उसने ख़ूब कमाई की। वह अपने भाई से कहने लगा—मैं तो अब अलग होता हूँ।

उसके बड़े भाई विचार में पड़ गये और घर में संघर्ष होने लगा। ऐसी हवाएँ हमारे पास भी आ जाती हैं। एक दिन मैंने उस कमाऊ पूत से कहा—भाई, पहले भी जीवन के दिन साथ-

साथ गुज़ारे हैं और अब भी गुज़ार सकते हो; पर अब क्या हो गया है कि अलग होने की ठानी है?

वह कहने लगा—अब बनती नहीं है और कहना मानते नहीं हैं।

मैंने पूछा—तो पहले कैसे बनती थी?

किन्तु जब अन्दर की बात बाहर आई तो पता लगा कि वह महसूस करता है कि मैं तो कमा रहा हूँ और वह हिस्सेदार बनते जा रहे हैं। अलग हो जाएँगे तो घर के दरवाज़े पर मोटर हॉर्न देती हुई आएगी और अपनी कमाई के आप ही पूरे हिस्सेदार होंगे और आप ही उसका उपभोग करेंगे।

मैंने सोचा—जो धन अनीति का होगा और जो रावण के स्वरूप की प्रेरणा लेकर कमाया जायगा, वहाँ उदारता, सहानुभूति और प्रीति नहीं रहेगी। उस धन का असर ऐसा ही होगा।

तो एक व्यक्ति का यह दोष नहीं है, यह तो आज समाज-व्यापी दोष बन गया है और इसलिए बन गया है कि जीवन की विराट कल्पना को लोग भूल गये हैं। संयम का आदर्श उनके सामने नहीं रहा है।

मुझे एक पिता की बात याद आती है। पिता कमाते-कमाते थक गया। उसने नीति गिनी, न अनीति गिनी, सिर्फ़ कमाई गिनी और जब लड़के आये तो ऐसे आये कि माल उड़ाने लगे। उसके संचय को बर्बाद करने लगे। वह मेरे पास आकर कहने लगा—महाराज, मैंने दुनियाँ भर के पाप करके धन जोड़ा और छोरे

उसे उड़ाये दे रहे हैं।

तब मैंने कहा—तुमने लाभ ही लाभ पर ध्यान दिया, शुभ पर ध्यान नहीं दिया! वह धन अनीति की राह से आया है तो अनीति की राह पर ही जा रहा है! तुम्हारी कमाई का हेतु उन्हें साफ़ नज़र नहीं आ रहा है, इसी कारण तुम्हारे लड़के उसे पानी की तरह वासना में बहा रहे हैं और तुम दिल मसोस कर रह रहे हो! तुमने कभी ध्यान नहीं दिया कि पैसा किस तरह आ रहा है? हज़ारों के आँसू पोंछ कर आ रहा है या आँसू बहा कर आ रहा है? फिर यह भी तो नहीं सोचा कि जो पैसा आया है, उसका शुद्ध रूप में उपयोग किस प्रकार किया जाय?

तो यह जीवन का एक महान् प्रश्न बन गया है। बड़े-बड़े शहरों में देखते हैं और सुनते हैं कि कोई महीना खाली नहीं जाता जब कि अख़बारों में पढ़ने को न मिलता हो कि किसी भले घर का लड़का भाग गया है। जब वह भाग जाता है तो पिता हैरान होते हैं और अख़बारों में हुलिया छपाते हैं। गल्ला सँभालते हैं तो मालूम होता है कि हज़ार दो हज़ार के नोट ग़ायब हैं! और वह लड़का बम्बई में वासनाओं का शिकार बन कर उन सब रुपयों को फूँक देता है और गलियों का भिखारी हो जाता है, तो अपना-सा मुँह लेकर लौटता है!

तो देखते हैं कि ब्रह्मचर्य के रूप में, गृहस्थ जीवन की जो मर्यादाएँ हैं, उनकी ओर ध्यान नहीं दिया जा रहा है!

हमारे सामने आज सिनेमा खड़े हैं और ज़हर बरसा रहे हैं।

उनमें से शिक्षा कुछ नहीं आ रही है, केवल वासनाएं आ रही हैं। प्रायः हरेक चित्रपट का यही हाल है। नवयुवक किसी डाकू का चित्र देखते हैं तो डाकू बनने की ओर प्रेमी तथा प्रेमिका का चित्र देखते हैं तो वैसा बनने की कोशिश करते हैं ! और अधिकांश सोचते हैं कि बम्बई में जाएँगे और फ़िल्म-कम्पनियों में जाएँगे और वहीं काम करेंगे। मगर फ़िल्म-कम्पनियों के दफ़तरों के आस पास इतने नवयुवक, चीलों की तरह मँडराते हैं कि जाने वालों को कोई पूछता तक नहीं है।

समाज के जीवन में यह एक घुन लग गया है, जो उसे निरन्तर खोखला करता जा रहा है और इस कारण हमारा जो आध्यात्मिक और विराट जीवन बनना चाहिये, वह नहीं बन रहा है !

नारी जाति की ओर ध्यान देते हैं तो देखते हैं कि पवित्र नारी जाति आज वासना की पुतली बन गई है। जहाँ भी बाज़ारों में देखते हैं, उनकी तसवीरों का अभिनेत्री के रूप में एक विज्ञापन मिलता है। नारी जाति का मातृत्व और भगिनीत्व उड़ गया है और केवल वासना का रूप रह गया है !

आज करोड़ों रुपया सिनेमा—व्यवसाय में लगा हुआ है और करोड़ों रुपया सिनेमा में काम करने वालों में बर्बाद किया जा रहा है। आज भारतवर्ष के सबसे बड़े नागरिक डाक्टर राजेन्द्रप्रसाद हैं। राष्ट्रपति के रूप में उनके कन्धों पर कितना उत्तरदायित्व है, यह कहने की कुछ आवश्यकता नहीं। किन्तु उनको जो वेतन मिलता है, सिनेमा के 'स्टार' को और 'हीरो' को

उससे कई गुना मिलता है। बताया गया है कि सिनेमा-स्टार सुरैया को अस्सी हज़ार हर महीने मिलते हैं और महीने में केवल चार दिन काम करना पड़ता है और शेष दिन मौज़ में गुज़रते हैं।

तो यह करोड़ों रुपया कहाँ से आ रहा है? चवन्नी-अठन्नी वाले दर्शकों की जेबें काट कर धन के ढेर लगाये जा रहे हैं और उसके बदले उन्हें वासनाएं मिल रही हैं।

पश्चिमी देशों में, अमेरिका की बात छोड़ दीजिए। वहाँ तो अर्धनग्न स्त्रियों के चित्रों के सिवाय समाज को कुछ नहीं दिया जाता है, पर अन्य देशों की बात ऐसी नहीं है। वहाँ सिनेमा शिक्षा, समाज सुधार और स्वदेशभक्ति आदि की उत्तम शिक्षा के प्रभावशाली साधन बना लिए गये हैं। वहाँ सिनेमा घर क्या हैं, मानो विद्यालय हैं। हमारे रवीन्द्र बाबू ने अपनी पश्चिम यात्रा का हाल लिखा है। उसमें एक रूसी सिनेमा का भी उल्लेख किया है। वे लिखते हैं कि रूस में एक सिनेमा दिखाया जा रहा था। सैकड़ों-हज़ारों बच्चे उसे देख रहे थे और तसवीरें आ रही थीं। उसमें बताया जा रहा था कि काले हब्शियों को अमेरिका देश के लोग किस प्रकार यंत्रणाएं देते हैं और किस प्रकार उनसे घृणा करते हैं। उन्हें देख-देख कर रूस के लोग हैरान हो रहे थे कि एक जाति के प्रति कितना भद्दा सलूक किया जा रहा है। यदि रंग नहीं मिलता है तो क्या इतने मात्र से कोई जाति घृणा, द्वेष और अत्याचार के योग्य हो जाती है? फिर क्यों उसके साथ

ऐसा अमानवीय व्यवहार किया जाता है कि उसे शान्ति के साथ जीवन गुज़ारना ही कठिन हो जाय !

तो रूस में ऐसा ही एक चित्र दिखलाया जा रहा था। सिनेमा-हाउस में, दर्शकों में, एक हब्शी भी बैठा था। सिनेमा जब समाप्त हुआ और दर्शक बाहर निकले तो उस हब्शी को बच्चों ने घेर लिया। हब्शी ने कहा—यह क्या कर रहे हो? बच्चे उससे चिपट गये और बोले—तुम हमारे देश में क्यों नहीं रहते हो? हम तुम्हारा स्वागत करेंगे, तुम्हारे प्रति प्रेमपूर्ण व्यवहार करेंगे।

आप देख सकते हैं कि एक तरफ़ अपने देश को ऊंचा उठाने के लिए सिनेमा दिखलाए जाते हैं, उनकी सहायता से बालकों को शिक्षा दी जाती है और समाज की कुरीतियों को दूर किया जाता है और राष्ट्रीय, सामाजिक एवं आत्मिक चेतनाएं दी जाती हैं, और दूसरी तरफ़ अनाचार, अनीति और वासनाओं का पाठ सिखलाया जा रहा है। वे क्या कर रहे हैं और तुम क्या कर रहे हो? हमारे देश के सिनेमा सिवाय वासना की आग में अधखिली कच्ची कलियों को झौंकने के और कुछ भी नहीं कर रहे हैं।

जो देश हज़ारों और लाखों वर्षों पहले आध्यात्मिकता के उच्चतर शिखर पर आसीन रहा, जिस देश के सामने भगवान् अरिष्टनेमि और पितामह भीष्म का उज्ज्वल आदर्श चमक रहा है, जिस देश को भगवान् महावीर का 'तवेसुवा उत्तम बंभचेरं'

का प्रेरणाप्रद प्रवचन सुनने को मिला है, जिसने अपनी श्वास के साथ सदाचार और सन्मति का शिक्षण लिया है, जो देश, आज भी धर्मप्रधान देश कहलाता है और जिसे विश्व का गुरू होने का गौरव प्राप्त है, वही देश आज इस हीन स्थिति पर पहुँच गया है कि यहाँ अनाचार की और वासनाओं की खुलेआम शिक्षा दी जाती है। परिताप की बात है कि हमारी अपनी ही सरकार ने इस ओर पर्याप्त ध्यान नहीं दिया है और न प्रजा की ओर से ही इस विषय में आवाज़ बुलन्द की जा रही है।

मैं समझता हूँ, अब तक के चित्रों ने भारतीय संस्कृति को नष्टभ्रष्ट करने का जितना प्रयत्न किया है उतना किसी और ने नहीं किया। इन चित्रों ने युवकों और युवतियों के हृदय में ज़हर के जो इंजेक्शन दिये हैं, उनसे उनका जीवन ज़हरीला बन गया है और बनता जारहा है। आज समाज पर उनका बड़ा ही बुरा प्रभाव पड़ रहा है। आज के सिनेमा भारत की लाखों वर्षों की संस्कृति के लिए एक चुनौती हैं।

इस देश के मनीषी महात्माओं ने ब्रह्मचर्य का पावन सौरभ फैलाया था और बतलाया था कि ब्रह्मचर्य की प्रचण्ड शक्ति के प्रताप से ही भारतीय साधकों ने मृत्यु पर विजय प्राप्त की। किन्तु आज यह देश सभी कुछ भूल रहा है! आज हम अपने जीवन को शास्त्रों से मिला कर देखें तो पता चलेगा कि शास्त्र क्या कहते हैं और हम अपना जीवन किस प्रकार गुज़ार रहे हैं; तो जब तक हम अपना जीवन शास्त्रों के अनुसार नहीं बनाएँगे,

तब तक हमारा जीवन धर्ममय नहीं बन सकता, तेजोमय नहीं बन सकता और विशाल नहीं बन सकता। हम अपने जीवन को राम, अरिष्टनेमि और महावीर के जीवन के ढाँचे में नहीं ढालेंगे तो देश और समाज का कल्याण होना कोरा स्वप्न ही रह जाएगा।

असली जीवन-तत्त्व ब्रह्मचर्य की साधना में ही है और ब्रह्मचर्य की साधना का अर्थ है—वृहत् कल्पना। सामाजिक दृष्टि से और राष्ट्रीय दृष्टि से भी हमारे जीवन में वृहत् कल्पना आनी चाहिए और उसके आने पर ही ब्रह्मचर्य की प्राणप्रदायिनी साधना सजीव हो सकती है।

ब्यावर,
१२-११-५०।

ब्रह्मचर्य का प्रभाव

ब्रह्मचर्य के सम्बन्ध में जैन-धर्म ने भी और दूसरे धर्मों ने भी एक बहुत महत्त्वपूर्ण बात कही है। ब्रह्मचर्य आत्मा की आन्तरिक शक्ति होते हुए भी बाह्य पदार्थों में परिवर्तन कर देने की अद्भुत क्षमता रखता है। वह उन पदार्थों की भयंकरता को नष्ट कर उनको आनन्दमय और मंगलमय बना देता है। उसके इस कार्य-कलाप से सम्बन्धित कहानियाँ सभी धर्मों में प्रचुर मात्रा में दीख पड़ती हैं।

ग्यारह लाख वर्षों का दीर्घतर काल व्यतीत हो जाने पर भी आज भी आप सुनते हैं कि सीता अपने सत्य और शील की परीक्षा के लिए अग्नि के कुण्ड में कूद पड़ी थी। उस विकराल कुण्ड में सीता कूदी तो हज़ारों आदमियों के मुख से चीख़

निकल पड़ी और लोगों के दिल दहल उठे। उनके नेत्र बन्द हो गये। किन्तु दूसरे ही क्षण उन्होंने जब आखें खोलीं तो देखते हैं- वह अग्नि-कुण्ड सरोवर के रूप में बदल गया है। खिले हुए कमल-पुष्पों के बीच सीता, देवी-स्वरूपा सीता एक तेजोमय प्रकाश से आलोकित हो उठी है। मगर आज ऐसी बातों और कथाओं पर लोगों की तरह-तरह की आलोचनाएँ सुनी जाती हैं। कुछ लोग समझने लगे हैं कि यह रूपक और अलंकार हैं। यह कभी हो सकता है कि आग, पानी बन जाय ? आग, आग है और पांनी, पानी !

किन्तु हमारे सामने और विचारशील व्यक्तियों के सामने एक बड़ा प्रश्न उपस्थित है कि भौतिक पदार्थों की शक्तियां बड़ी हैं या उन पदार्थों के ऊपर आत्मा की शक्ति बहुत बड़ी है ?

यदि हम प्रकृति के भौतिक पदार्थों को महत्त्व देते हैं और उनको बड़ा समझ लेते हैं, तो इसका मतलब है कि आत्मा उन पर किसी प्रकार का प्रभाव नहीं डाल सकती। अगर वह अच्छी है तो अन्दर में ही अच्छी है, किन्तु बाहर के पदार्थों में कुछ भी परिवर्त्तन नहीं कर सकती है। मगर विचार करने पर पता चलता है कि ऐसी बात नहीं है। समस्त संसार हमारे सामने है और भौतिक शक्तियाँ भी हमारे सामने हैं। जैनधर्म ने समस्त संसार को एक अद्भुत चेतना दी है कि इन्सान अपने आपको ऊँचा उठा ले और उसके अन्तर में एक शक्तिशाली लहर चल पड़े तो, उस मनुष्य के सामने भौतिक शक्तियाँ भी हाथ जोड़ कर खड़ी हो

जाएँगी। तब उन शक्तियों में परिवर्तन हो सकता है और वह परिवर्तन यहां तक हो सकता है कि आग का पानी भी बन सकता है। भौतिक विज्ञान के द्वारा ऐसा होने में कुछ देर लग सकती है, किन्तु आत्मा का जो विज्ञान है और आध्यात्मिक शक्ति है, उनमें इतनी क्षमता है कि उसके द्वारा आग का पानी बनने में देर नहीं लग सकती।

आप सुनते आ रहे हैं कि एक नारी थी—महान् शीलवती! नाम था उसका सोमा। उसके लिए घड़े में साँप डाल कर रख दिया गया और उससे कहा गया कि उस घड़े में फूलों की माला है, उसे ले आओ। सोमा सती माला लेने गई। उसने घड़े में हाथ डाला तो साँप सचमुच ही पुष्पमाला बन गया! वह सामान्य भाव से फूलों की माला ले आई और देखने वाले आश्चर्य में डूब गये! वे सोचने लगे—यह माला वहाँ कहाँ से आ गई? हमने तो उसमें साँप डाला था।

घड़े को देखा, आँखें फाड़-फाड़ कर देखा, घड़ा खाली पड़ा था। सोमा से कहा गया—अच्छा, इस माला को वापिस ले जाओ और उसी घड़े में डाल दो।

सोमा ने ज्यों ही घड़े में माला डाली तो वह माला साँप के मूल रूप में बदल गई। अब दूसरे देखते हैं तो उन्हें साँप नज़र आता है और सती सोमा देखती है तो उसे फूलों की माला नज़र आती है।

यह बड़ा ही महत्त्वपूर्ण आश्चर्य है। जो वहां, उस समय, मौजूद रहे होंगे और जिन्होंने यह आश्चर्य देखा होगा, उन्हें

तो आश्चर्य हुआ ही होगा, किन्तु हम आज उस घटना का वर्णन पढ़ते हैं, तो भी चकित रह जाते हैं और खोजने पर भी समाधान नहीं पाते ! आखिर इसी नतीजे पर पहुँचते हैं कि जिनके विचारों में साँप था, उनके लिए वह साँप ही था और जिसके विचार में फूल-माला थी, उसके लिए वह फूल माला ही थी। और इस प्रकार साँप यदि फूलों की माला बन गया तो यह असम्भव किस प्रकार हो सकता है।

भगवान् महावीर जब सूने वन में ध्यान लगाते तो क्या होता कि कभी-कभी हिरण उन महाप्रभु के निकट आता और उनकी मंगलमय शान्त छवि देखकर मगन हो जाता। हिरन का मन, उसके नयन भगवान् की अद्भुत सौम्य, शान्त और मनोहर मुद्रा पर अटके रहते और वह वहीं बैठा रह जाता ! दूसरी ओर से मृगराज गर्जना करता आता और भगवान् की प्रशान्त सुख-मुद्रा को देखकर, शान्त मन से वहीं भगवान् के चरणों में बैठ जाता। आचार्यों ने वर्णन किया है कि कभी-कभी तो यहाँ तक होता कि हिरणी का बच्चा शेरनी का दूध पीने लगता और शेरनी का बच्चा हिरनी का दूध पीने लगता।

मानो इस तरह वहाँ पहुँच कर शेर अपना शेरपन और हिरन अपना हिरनपन भूल जाता। वास्तव में वह एक ऐसी प्रखरतर शक्ति से प्रभावित हो जाते कि उन्हें अपने वाह्य रूप का ध्यान ही न रह जाता। अगर ऐसा न होता तो हिरन, शेर के पास कैसे बैठता ? हिरन का बच्चा, शेरनी के स्तनों पर मुंह

कैसे लगाता ? यदि शेर का शेरपन न चला गया होता और वह ज्यों का त्यों मौजूद होता तो उसकी वृत्ति—क्रूरता का स्वभाव—विद्यमान रहता तो वह हिरन को सकुशल कैसे अपने पास बैठने देता ? शेरपन लेकर शेर हिरन के पास चुपचाप शान्त और प्रीति-भाव से कैसे बैठा रहता ?

इस प्रकार विचार करने पर एक महान् ज्योति का स्वरूप हमारे सामने आता है। हम सोचते हैं कि प्रकृति स्वयं अपना रूप छोड़ देती है और क्रूर प्राणियों के क्रूर भाव निकल जाते हैं। इस रूप में प्रेमभाव को और भ्रातृभाव की लहर प्राणियों में पैदा हो जाती है और तभी यह दृश्य नजर आते हैं।

इस रूप में आत्मा की महान् शक्ति का, बाह्य-जगत् और प्राणी-जगत् पर प्रभाव पड़ना असम्भव नहीं है। न केवल जैन धर्म ही, वरन् संसार के प्रायः सभी धर्म इस प्रभाव का समर्थन करते हैं। योगसूत्र का यह वाक्य ध्यान देने योग्य है—

अहिंसा-प्रतिष्ठायां तत्सन्निधौ वैर-त्यागः।

—पतंजलि

अर्थात्-जिस महान् साधक की आत्मा में अहिंसा की भावना प्रकृष्ट हो जाती है, जिसके अन्तःस्तल के सरोवर में प्रेम, दया, करुणा और सहानुभूति की लहरें उछालें मारने लगती हैं, उसके आसपास का वायुमंडल इतना सात्विक, पावन और प्रभावजनक बन जाता है कि परस्पर विरोधी, जन्मजात शत्रु भी अपनी वैरभावना का परित्याग कर बन्धुभाव से हिलमिल कर

साथ-साथ बैठते हैं।

इस प्रकार के विधानों और कथानकों पर आज का मानव विश्वास करते हुए हिचकिचाता है। इसका वास्तविक कारण यह नहीं है कि ये कथाएँ विश्वास करने योग्य नहीं हैं। वास्तविक कारण यह है कि आज आत्मा के गौरव की गाथाएँ फीकी पड़ गई हैं, क्योंकि आज का मनुष्य वासना के चंगुल में इतनी बुरी तरह से फँस गया है, अपनी ही बुरी वृत्तियों का ऐसा गुलाम हो गया है कि वह अपने महान् व्यक्तित्व को भुला बैठा है। वास्तव में उसका यह अविश्वास उसकी दयनीय दशा का द्योतक है और इस बात को प्रकट करता है कि वह अधःपतन की बहुत गहराई में पैठ चुका है।

किन्तु हम, जो उन पुरानी परम्पराओं के प्रति अपनी निष्ठा रखते हैं और उनमें रस लेते हैं, आज भी उन घटनाओं पर विश्वास करते हैं और सीता और सोमा की कहानी को कहानी न मानकर एक सत्य मानते हैं।

द्रौपदी के उस महान् वैभव को भी हम नहीं भूल जाते, जो दुर्योधन की सभा में सूर्य की भाँति चमक उठा था? उसको नग्न करने का प्रयत्न किया जा रहा है, किन्तु उधर वस्त्रों का ढेर लग जाता है और दुष्ट दुःशासन के हाथ, जो हज़ारों का क़त्ल करने के बाद भी ढीले नहीं पड़े थे, खींचते-खींचते थक जाते हैं, मगर द्रौपदी की साड़ी का कहीं अन्त दिखाई नहीं देता। दुःशासन के हज़ार प्रयत्न करने पर भी द्रौपदी नग्न नहीं हो सकी!

कह देना सरल है कि यह कहानी कपोलकल्पित है, मगर ऐसा कहना अपने अज्ञान का ही परिचय देना है। आध्यात्मिक शक्ति और ब्रह्मचर्य की शक्ति से अपरिचित व्यक्ति ही ऐसी बात कह सकता है। हम ऐसा नहीं कह सकते, क्योंकि हम इन शक्तियों को महत्त्व देते हैं।

तो दार्शनिक क्षेत्र में एक जटिल प्रश्न है कि चेतना वाह्य पदार्थों से प्रभावित होती है या वाह्य पदार्थ चेतना से प्रभावित होते हैं। आजकल के साइन्सदां कहते हैं कि वाह्य जगत् का ही चेतना पर प्रभाव पड़ता है, बाहर के रंग-रूपों के प्रतिबिम्ब अन्दर जाते हैं और मनुष्य उनमें फंस जाता है, बाहर के दृश्य मन की वृत्तियों को जगा देते हैं। मगर ऐसा एकान्त स्वीकार करना तर्क और अनुभव के विरुद्ध है। क्योंकि हमारी दृष्टि में जैसे वाह्य पदार्थ से चेतना प्रभावित होती है, उसी प्रकार अन्दर की चेतना से बाहर के पदार्थ भी प्रभावित होते हैं।

हम अनुभव करते हैं कि किसी भी भयंकर पदार्थ को देखकर, जिसमें भय की वृत्ति है, वही प्रभावित होता है, और जिसमें भय की भावना नहीं है, वह प्रभावित नहीं होता। बल्कि यों कहना चाहिए कि भयंकर कहलाने वाला पदार्थ, उसी के लिए भयंकर है, जिसके अन्तःस्तल में भय की भावना है। निर्भय के लिए भयंकर पदार्थ दुनिया में कोई है ही नहीं।

इसी प्रकार किसी व्यक्ति के अन्दर में यदि द्वेष है तो वह बाहर में भी द्वेष से प्रभावित होगा, नहीं तो नहीं होगा। भगवान्

महावीर के समवसरण में दो-दो साधुओं की हत्या होती है, आग की ज्वालाएं चक्कर काटती हैं और तेजोलेश्या का प्रयोग किया जाता है, एक तरह से समवसरण में हंगामा मच जाता है। यह सब होता है, किन्तु जब हम उस महान् मूर्ति को देखते हैं तो क्या देखते हैं कि गोशाला के आने से पहले जो प्रशान्त भाव उसके चेहरे से झलक रहा था, वही दो साधुओं के भस्म हो जाने पर भी झलकता रहता है। तो हम समझते हैं कि जो बाहर से प्रभावित होने वाले थे, वे तो प्रभावित हो गये; किन्तु जिनके मन में राग-द्वेष नहीं रहा था, जिनका मन स्वच्छ और निर्मल बन चुका था, उन पर कोई प्रभाव नहीं पड़ा। इसका अर्थ यह है कि यदि अन्दर में वृत्तियाँ होंगी तो बाहर के जगत् से अन्दर का जगत् प्रभावित हो जायगा और यदि अन्दर में वृत्तियाँ नहीं हैं तो वह बाहर से प्रभावित नहीं होगा।

साथ ही अन्दर के जगत् से वाह्य जगत् किस प्रकार प्रभावित होता है, यह बतलाने के लिए अभी मैंने सीता, सोमा, और द्रौपदी के जीवन की घटनाएं आपके सामने रक्खी हैं। थोड़ी देर के लिए हम इन घटनाओं की उपेक्षा भी कर दें, तो भी चेतना के वाह्य जगत् पर पड़ने वाले प्रभाव को साबित करने वाले तर्कों का टोटा नहीं है। हमारे यहाँ भय का भूत प्रसिद्ध है और यह भी प्रसिद्ध है कि वह कभी-कभी मनुष्य के प्राणों तक का गाहक बन जाता है। वह क्या चीज़ है? वास्तव में चेतना ही वहाँ वाह्य को इस रूप में प्रभावित और उत्तेजित करता है, जिस

से स्वयं उसका जीवन आक्रान्त हो जाता है।

इस रूप में ब्रह्मचर्य की जो कहानियाँ हैं, उनके सामने हमारा सिर झुक जाता है; हम उनका अभिनन्दन करते हैं और वह सही हैं और सही ही रहेंगी। वे कहानियाँ संसार के इतिहास में अजर और अमर रहेंगी और जनसमाज के जीवन को युग-युग तक महत्त्वपूर्ण प्रेरणा देती रहेंगी।

ब्रह्मचर्य की प्रशंसा कौन नहीं करता? हमारे शास्त्र ब्रह्मचर्य की महिमा का गान करते हुए कहते हैं—

देवदाणवगंधव्वा, जक्ख-रक्खस-किन्नरा।
बंभयारिं नमंसंति, दुक्करं जे करेन्ति तं॥

जो महान् पुरुष दुष्कर ब्रह्मचर्य का पालन करते हैं, समस्त दैवी शक्तियाँ उनके चरणों में सिर झुका कर खड़ी हो जाती हैं। देव, दानव, गंधर्व, यक्ष, राक्षस और किन्नर ब्रह्मचारी के चरणों में लोटते हैं।

परन्तु हमें यह जानना है कि ब्रह्मचर्य कैसे प्राप्त किया जाता है और किस प्रकार उसकी रक्षा हो सकती है?

इस प्रश्न का उत्तर पाने के लिए एक बात पहले समझ लेना चाहिए। वह यह है कि ब्रह्मचर्य का भाव बाहर से नहीं लाया जाता है। वह तो अन्तर में ही है, किन्तु विकारों ने उसे दबा रक्खा है।

जैनधर्म ने यही कहा है कि बाह्य में ऐसी कोई भी नई चीज़ नहीं है, जो इस पिण्ड में न हो। केवल ज्ञान और केवल दर्शन

की जो महान् ज्योति मिलती है, उसके विषय में कहने को तो कहते हैं कि वह अमुक दिन और अमुक समय मिल गई, किन्तु वास्तव में कोई नवीन चीज़ नहीं मिलती है। हम केवल ज्ञान, केवल दर्शन और दूसरी आध्यात्मिक शक्तियों के लिए आविर्भाव शब्द का प्रयोग करते हैं। वस्तुतः केवल ज्ञान आदि शक्तियाँ उत्पन्न नहीं होती हैं, आविर्भूत होती हैं। उत्पन्न होने का अर्थ नयी चीज़ का बनना है और आविर्भाव का अर्थ है—विद्यमान वस्तु का, आवरण हटने पर सामने आ जाना।

जैनधर्म प्रत्येक शक्ति के लिए आविर्भाव शब्द का प्रयोग करता है, क्योंकि किसी वस्तु में कोई भी अभूतपूर्व शक्ति उत्पन्न नहीं होती है।

तो आत्मा की जो शक्तियाँ हैं, वे अन्तर में विद्यमान हैं, किन्तु वासनाओं के कारण दबी रहती हैं। हमारा काम उन वासनाओं को दूर करना है। इसी को साधना कहते हैं। जैसे किसी पात्र को जंग लग गई है, किसी धातु के बरतन की चमक कम हो गई है, तो चमक लाने के लिए मांजने वाला उसे घिसता है, उसे साफ़ करता है। तो ऐसा करके वह कोई नई चमक उसमें नहीं पैदा करता है। उस बरतन में जो चमक विद्यमान है और जो बाह्य वातावरण से दब गई या छिप गई है, उसे प्रकट कर देना ही मांजने वाले का काम है। सोना, कीचड़ में गिर गया है और उसकी चमक छिप गई है। उसे साफ़ करने वाला सोने में कोई नई चमक बाहर से नहीं डाल रहा है, सोने को सोना नहीं बना

रहा है, सोना तो वह हर हालत में है ही। जब कीचड़ में नहीं पड़ा था, तब भी सोना था और जब कीचड़ से लथपथ हो गया, तब भी सोना ही है और जब साफ़ कर लिया गया, तब भी सोने का सोना ही है। उसमें चमक पहले भी थी और बाद में भी है। बीच में, जब वह कीचड़ में लथपथ हो गया, तो उसकी चमक दब गई। मांजने वाले ने बाहर से लगी हुई कीचड़ को साफ़ कर दिया, आये हुए विकार को हटा दिया तो सोना अपने असली रूप में आ गया।

आत्मा के जो अनन्त गुण हैं, उनके विषय में भी जैनधर्म की यही धारणा है। जैनधर्म कहता है कि वे गुण बाहर से नहीं आते है, वे अन्दर में ही रहते हैं। परन्तु आत्मिक विकार उनकी चमक को दबा देते हैं। साधक का यही क़ाम है कि वह उन विकारों को हटा दे। विकार हट जाएँगे तो आत्मा के गुण अपनी असली आभा को लेकर चमकने लगेंगे।

हिंसामय विकार को साफ़ करेंगे तो अहिंसा चमकने लगेगी। असत्य का सफ़ाया करेंगे तो सत्य चमकने लगेगा। इसी प्रकार स्तेय-विकार को हटाने पर अस्तेय और विषय-वासना को दूर करने पर संयम की ज्योति हमें नज़र आने लगती है। जब क्रोध को दूर किया जाता है तो क्षमा प्रकट हो जाती है और लोभ को हटाया जाता है तो सन्तोष गुण प्रकट हो जाता है। अभिमान को दूर करना हमारा काम है, किन्तु नम्रता पदा करने का कोई काम नहीं। वह तो आत्मा में मौजूद ही है। इसी प्रकार माया

को हटाने के लिए हमें साधना करना है, सरलता को उत्पन्न करने के लिए किसी प्रयास की आवश्यकता नहीं है। सरलता तो आत्मा का स्वभाव ही है। माया के हटते ही वह उसी प्रकार प्रकट हो जाएगी, जैसे कीचड़ धुलते ही सोने में चमक आ जाती है।

जैन-धर्म में आध्यात्मिक दृष्टि से गुणस्थानों का बड़ा ही सुन्दर और सूक्ष्म विवेचन किया गया है। एक-एक गुणस्थान, उस महान् प्रकाश की ओर जाने के सोपान हैं। किन्तु उन गुणस्थानों को पैदा करने की कोई बात नहीं बतलाई है। यही बताया है कि अमुक विकार को दूर किया तो अमुक गुणस्थान आ गया। मिथ्यात्व को दूर किया तो सम्यक्त्व की भूमिका पर आ गये और अविरति को हटाया तो पांचवें-छठे गुणस्थान को प्राप्त कर लिया। इसी प्रकार ज्यों-ज्यों विकार दूर होते जाते हैं, गुणस्थान की उच्चतर श्रेणी प्राप्त होती जाती है।

सम्यग्दर्शन, ज्ञान विरक्ति आदि आत्मा के मूल भाव हैं। यह मूल भाव जब आते हैं तो कोई बाहर से खींच कर नहीं लाये जाते। उन्हें तो सिर्फ प्रकट किया जाता है। हमारे घर में जो ख़ज़ाना गढ़ा हुआ है, उसे खोद लेना मात्र हमारा काम है; उस पर लदी हुई मिट्टी को हटाने की ही आवश्यकता है। मिट्टी हटाई और ख़ज़ाना हाथ लगा। विकार को दूर किया और आत्मा का मूल भाव हाथ आ गया।

इस प्रकार जैन-धर्म की महान् साधना का एक-मात्र उद्देश्य

विकारों से लड़ना और उन्हें दूर करना ही है।

विकार किस प्रकार दूर किये जा सकते हैं, इस सम्बन्ध में भी जैन-धर्म ने निरूपण किया है। आचार्यों ने कहा है कि यदि अहिंसा के भाव समझ में आ जाते हैं तो दूसरे भाव भी समझ में आ जायेंगे। इसके लिए कहा गया है कि बाहर में चाहे हिंसा हो अथवा न हो, हिंसा का भाव आने पर अन्तर में हिंसा हो ही जाती है। इसी प्रकार जो असत्य बोलता है, वह आत्महिंसा करता है और जब चोरी करता है तो अपनी चोरी तो कर ही लेता है। इस रूप में मनुष्य जब वासना का शिकार होता है तो अन्तर में भी और बाहर में भी हिंसा हो जाती है। कोई विकार, चाहे बाहर हिंसा न करे, किन्तु अन्तर में हिंसा अवश्य करता है। दियासलाई जब रगड़ी जाती है, तो वह पहले तो अपने आपको ही जला देती है, और जब वह दूसरों को जलाने जाती है तो सम्भव है कि बीच में ही बुझ जाय और दूसरों को न जलाने पाए। मगर दूसरों को जलाने के लिए पहले स्वयं को तो जलाना पड़ता ही है। तो ऐसी कुभावना से क्या लाभ।

प्रत्येक वासना हिंसा है, ज्वाला है और वह आत्मा को जलाती है। अपने विकारों द्वारा हम तो नष्ट हो ही जाते हैं; फिर दूसरों को हानि पहुँचे या न पहुँचे। वातावरण अनुकूल मिल गया तो दूसरों को हानि पहुँचा दी और न मिला तो हानि न पहुँचा सके। किन्तु अपनी हानि तो हो ही गई। दूसरों की परिस्थितियाँ और दूसरों का भाग्य हमारे हाथ में नहीं है। अगर

वह अच्छा है तो उन्हें हानि कैसे पहुँच सकती है ? उन्हें कैसे जलाया जा सकता है ? परन्तु दूसरे को जलाने का विचार करने वाला स्वयं को जरूर जला लेता है।

इस कारण हमारा ध्येय अपने विकारों को दूर करना है। प्रत्येक विकार हिंसा रूप है और यह भूलना नहीं चाहिए कि बाहर में चाहे हिंसा हो या न हो, पर विकार आने पर अन्तर में हिंसा हो ही जाती है। अतएव साधक का दृष्टिकोण यही होना चाहिए कि वह अपने विकारों से निरन्तर लड़ता रहे और उन्हें परास्त करता चला जाए।

विकारों को परास्त किया कि ब्रह्मचर्य हमारे सामने आ गया। इस विवेचना से एक बात और समझ में आ जानी चाहिए कि ब्रह्मचर्य की साधना के लिए आवश्यक है कि हम दूसरी इन्द्रियों पर भी संयम रक्खें, अपने मन को भी क़ाबू में रक्खें।

आप ब्रह्मचर्य की साधना तो ग्रहण कर लें किन्तु आँखों पर अंकुश न रक्खें और बुरे से बुरे दृश्य देखा करें तो क्या लाभ ? आँखों में ज़हर भरता रहे और संसार के रंगीन दृश्यों का मज़ा बाहर से तो लिया जाता रहे, और ब्रह्मचर्य को सुरक्षित रखने का मंसूबा भी किया, जाय यह असम्भव है।

इस कारण भगवान् महावीर का मार्ग कहता है कि ब्रह्मचर्य की साधना के लिए समस्त इन्द्रियों पर अंकुश रखना चाहिए। हम अपने कानों को इतना पवित्र बनाये रखने का प्रयत्न करें कि जहाँ गाली-गलौज का वातावरण हो और बुरे

शब्द सुनने को मिल रहे हों, वहाँ हमें सावधान रहना चाहिए अथवा उस वातावरण से अलग रहना चाहिए। यदि शक्ति है तो उस वातावरण को बदल दें और यदि शक्ति नहीं है तो उससे अलग रहना ही श्रेयस्कर है। हमें कानों के द्वारा कोई भी विकारोत्तेजक शब्द मन में प्रवेश नहीं होने देने चाहिए।

जब गन्दे शब्द मन में प्रवेश पा जाते हैं तो वहाँ वे जड़ भी जमा सकते हैं। वे मन के किसी भी कोने में जम सकते हैं और धीरे-धीरे पनप भी सकते हैं, क्योंकि मन जल्दी भूलता नहीं है। और जो शब्द उसके भीतर गूंजते रहते हैं, अवसर पाकर अनजान में ही वे जीवन को आक्रान्त कर देते हैं। अतएव ब्रह्मचर्य के साधक को अपने कान पवित्र रखने चाहिएँ। वह जब भ सुने, पवित्र बात ही सुने और जब कभी प्रसंग आए तो पवित्र बात ही सुनने को तैयार रहे। गन्दी बातों का डटकर विरोध करना चाहिए—मन के भीतर भी और समाज के प्रांगण में भी। घरों में गाये जाने वाले गन्दे गीत तुरन्त ही बन्द कर देने की आवश्यकता है।

मुझे मालूम हुआ है कि विवाह-शादियों के अवसर पर बहुत सी बहिनें गन्दे गीत गाती हैं। जहाँ विवाह का पवित्र वातावरण है, आदर्श है, और जब दो साथी अपने गृहस्थजीवन का मंगलाचरण करते हैं, उस अवसर पर गन्दे गीत उस पवित्र वातावरण को कलुषित करते हैं और मन में दुर्भाव उत्पन्न करते हैं।

जिस समाज में इस प्रकार का गन्दा वातावरण है, बुरे विचार

हैं और कलुषित भावनाएँ सहसा पैदा हो जाती हैं, उस समाज की उदीयमान प्रजा किस प्रकार सुसंस्कारों और उज्ज्वल चारित्र वाली बन सकेगी ? जो समाज अपने बालकों और बालिकाओं के हृदय में, कानों द्वारा, जहर उँड़ेलता रहता है, उस समाज में पवित्र चारित्र और सत्त्वगुणी व्यक्तियों का परिपाक होना कितना कठिन है ।

आश्चर्य होता है कि जिन्होंने प्रतिदिन, वर्षों तक, सामायिक की, आगमों का प्रवचन सुना, वीतराग प्रभु और महान् आचार्यों की वाणी सुनी और सन्तों की संगति और उपासना की, उनके मुख से किस प्रकार अश्लील और गन्दे गाने निकलते हैं ? शिष्ट और कुलीन परिवार किस तरह इन गीतों को बर्दाश्त करते हैं ? कोई भी शीलवान् व्यक्ति कैसे ऐसे गीतों को सुनता है ?

अश्लील गीत समाज के होनहार कुमारों और कुमारिकाओं के हृदय में वासना की आग भड़काने वाले हैं, कुलीनता और शिष्टता के लिए चुनौती हैं और समग्र वायुमंडल को विषमय बनाने वाले हैं ।

मैं नहीं समझ पाता कि जो पुरुष और नारियाँ ऐसे अवसर पर इतनी निचाई पर पहुँच जाते हैं, उन्होंने वर्षों की साधना क्यों की है ? उनकी साधनाओं ने अगर कोई आध्यात्मिक चेतना उत्पन्न की, तो वह कहाँ ग़ायब हो जाती है ? इससे तो यही निष्कर्ष निकलता है कि उनकी वर्षों की साधनाएँ ऊपर-ऊपर की हैं, वे आईं और तैर गईं, उन्होंने जीवन को कोई संस्कार नहीं

दिया ! यह निष्कर्ष भले ही कटु है, पर मिथ्या नहीं है, साथ ही हमारी आँखें खोल देने वाला भी है।

यह समझना गलत है कि वे भद्दे गीत क्षणिक और मन की तरंग-मात्र हैं। जलाशय में जल की तरंग उठती है, पर तभी उठती है, जब उसमें जल जमा होता है। जहाँ जल ही न होगा, वहाँ जल-तरंग नहीं उठेगी। इसी प्रकार जिस मन में अपवित्रता और गन्दगी के कुसंस्कार न होंगे, उस मन में अपवित्र गीत गाने की तरंग भी नहीं उठनी चाहिए। अतएव यही अनुमान किया जा सकता है कि मन में विकार जमे बैठे थे, प्रसंग आया तो बाहर निकल आये।

बहुत से लोग बात-बात में गालियाँ बकते हैं। उनकी गालियाँ उनकी असंस्कारिता और फूहड़पन को सूचित करती हैं, परन्तु यहीं उनके दुष्परिणाम का अन्त नहीं हो जाता। उनकी गालियाँ समाज में कलुषित वायुमण्डल का निर्माण करती हैं। उनकी देखादेखी छोटे-छोटे बच्चे भी गालियाँ बोलना सीख जाते हैं। जिन फूलों को खिलने पर सुगन्ध देनी चाहिए, उनसे जब हम अभद्र शब्दों और गालियों की बदबू निकलती देखते हैं, तो दिल मसोस कर रह जाना पड़ता है। मगर बालकों की उन गालियों के पीछे वे बड़े हैं, जो विचार-हीनता के कारण अपशब्दों का प्रयोग करते रहते हैं।

जिस समाज में इस प्रकार की विचार-धारा बह रही हो, उस समाज की अगली पीढ़ियाँ देवता का रूप लेकर नहीं आने वाली

हैं। अगर आपके जीवन में से राक्षसी वृत्तियाँ नहीं निकली हैं तो आपकी सन्तान में दैवी वृत्तियों का विकास किस प्रकार हो सकता है? देवता की सन्तान देवता बनेगी, राक्षसों की सन्तान देवता नहीं बन सकती।

यह बातें छोटी मालूम होती हैं, परन्तु छोटी-छोटी बातें भी समय पर बड़ा भारी असर पैदा करती हैं।

एक प्राचीन दार्शनिक आचार्य ने परमात्मा से बड़ी सुन्दर याचना करते हुए कहा है—

भद्रं कर्णेभिः शृणुयामः शरदः शतम्।
भद्रमक्षिण्यपि पश्यामः शरदः शतम्॥

प्रभो! मैं अपने जीवन के सौ वर्ष पूरे करूँ तो अपने कानों से भद्दी बातें न सुनूँ। भद्र बातें ही सुनूँ। अच्छी-अच्छी और सुन्दर बातें ही सुनूँ! मेरे कानों में पवित्रता का प्रवाह सर्वदा बहता रहे। कभी अभद्र संगीत, गाली अथवा कहावत कानों से न सुनूँ।

हमारे दार्शनिक और हमारे आचार्य इस प्रकार की भावना हमारे समक्ष रखना चाहते हैं!

जो बात कानों के विषय में कही गई है, वही आँखों के विषय में भी कही गई है। कोई भी मनुष्य अपनी आँखों पर पर्दा डाल कर नहीं चल सकता। आँखें हैं तो उनके सामने संसार आएगा, फिर भी हमें उस महान् जीवन के अनुरूप विचार करना है कि जब भी कोई अभद्र रूप हमारे सामने आए और हम देखें कि

हमारे मन में विकारों का बहाव आ रहा है तो आँखें बंद कर लें या अपनी निगाह दूसरी ओर कर लें। आँखों के द्वारा अमृत भी आ सकता है और ज़हर भी आ सकता है, किन्तु हमें तो अमृत ही लेना है। संसार में बैठे हैं तो क्या हुआ, लेंगे तो अमृत ही लेंगे।

एक वृक्ष है। उसमें फूल भी हैं और काँटे भी हैं। माली उसमें से फूल लेता है, काँटे नहीं लेता। हमें भी माली की तरह संसार में फूल ही लेने हैं, उसके काँटे नहीं। संसार की अभद्रता हमारे लिए कांटे-स्वरूप है, वह ताज्य है। कोई चाहे कि सारा संसार अच्छा बन जाय तो मैं भी अच्छा बन जाऊँ—यह सम्भव नहीं है। दुनियाँ में दो रंग सर्वदा ही रहेंगे। अतएव हमें इस बात का ध्यान सर्वदा ही रखना चाहिए कि संसार अच्छा बने या न बने, हमें तो अपने जीवन को अच्छा बना ही लेना है। यह नहीं कि हज़ारों दीवालिए दीवाला निकाल रहे हैं तो एक साहूकार भी क्यों न दीवाला निकाल दे ? हां, संसार के कल्याण की कामना करो, संसार के कल्याण के लिए अपनी शक्तियों का प्रयोग भी करो, मगर संसार के सुधार तक अपने जीवन के सुधार को मत रोको। संसार की बातें संसार पर छोड़ो और पहले अपनी ही बात लो। आप अपना सुधार कर लेते हैं तो वह संसार के सुधार का ही एक अंग है। आत्मसुधार के बिना संसार को सुधारने की बात करना एक प्रकार की हिमाक़त है, अपने आपको और संसार को ठगना है। जो स्वयं को नहीं सुधार

सकता, वह संसार को क्या सुधार सकता है।

यह एक ऐसा तथ्य है कि इसमें कभी विपर्यास नहीं हो सकता। जैन इतिहास के प्रत्येक पृष्ठ पर यह सत्य अपनी असिट छाप लिए बैठा है। तीर्थङ्करों की जीवनियों को देखिए। जब तक वे सर्वज्ञता और वीतरागता नहीं प्राप्त कर लेते, आत्मा के विकास को उच्चतम श्रेणी पर नहीं पहुंच जाते, तो उस समय तक जगत् के उद्धार करने के प्रपंच से दूर ही रहते हैं। और जब वह यह स्थिति प्राप्त कर लेते हैं तो कृतकृत्य और कृतार्थ होकर जगत् का उद्धार करने में लग जाते हैं।

इसलिए आचार्य प्रार्थना करते हुए कहते हैं कि हम आंखों से सौ वर्ष तक भद्र रूपों को ही देखें, सन्तों के ही दर्शन करें। जो अभद्र रूप हैं, वे हमारी दृष्टि से ओझल ही रहें।

यह प्रार्थना कर आचार्य आगे चल कर कहते हैं—जो कानों से भद्र शब्द ही सुनेगा और आँखों से भद्र रूप ही देखेगा और अभद्र शब्दों और रूपों से विमुक्त होकर रहेगा, उसका जीवन इतना सुन्दर बन जायगा कि वह दीर्घ आयु प्राप्त करेगा और शतजीवी होगा।

तो यही कानों और आँखों का ब्रह्मचर्य है और इसी से अन्दर के ब्रह्मचर्य को पार किया जा सकता है। कोई कानों और आँखों को खुला छोड़ दे, उन पर अंकुश न रक्खे, फिर चाहे कि उसमें आध्यात्मिक शक्तियां उत्पन्न हो जाएँ, तो यह असम्भव है। इसी कारण हमारे यहाँ नौ बाड़ों का वर्णन आया है और

वह वर्णन बड़े ही सुन्दर रूप में है।

हमारे शरीर में जीभ भी एक महत्त्वपूर्ण अंग है। मनुष्य का शरीर कदाचित् ऐसा बना होता कि उसे भोजन की आवश्यकता ही न होती और यों ही क़ायम रह जाता तो, मैं समझता हूँ, नौ सौ निन्न्यानवे संघर्ष कम हो जाते। किन्तु ऐसा नहीं है। शरीर आख़िर शरीर ही है और उसकी कुछ न कुछ क्षतिपूर्ति करनी ही पड़ती है। इस दृष्टि से जीभ का काम बड़ा ही महत्त्व-पूर्ण है।

संसार में भोजन की अच्छी-बुरी बहुतसी चीज़ें मौजूद हैं। कोई चीज़ हाथ से उठाई और मुँह में डाल ली। अब वह अच्छी है या बुरी है, इसका निर्णय कौन करे? उसकी परीक्षा कौन करे? यह सत्य कौन प्रकट करे? यह जीभ का काम है। वह वस्तु की सरसता और नीरसता का और अच्छेपन बुरेपन का अनुभव करती है और उसे दूसरों पर प्रकट करती है। तो जिह्वा का काम वस्तुओं की परख करना और बोलना है। किन्तु आज उसका काम पेट-पूर्ति करना ही बन गया है। चीज़ अच्छी है या नहीं, परिणाम में सुखद है या नहीं, शरीर के लिए उपयोगी है या अनुप-योगी, जीवन को बनाने वाली है या बिगाड़ने वाली, इसका कोई विचार नहीं। बस, जीभ को अच्छी लगनी चाहिए। जीभ को जो अच्छा लगा, सो गटक लिया! इस प्रकार खाने की न कोई सीमा रही है, न मर्यादा रही है।

खाने के अर्थ जीना, धर्म का लक्षण नहीं है। खाने का अर्थ

है—शरीर की क्षति और दुर्बलता की पूर्ति करना और जीवन निर्माण के लिए आवश्यक शारीरिक शक्ति प्राप्त करना। जहाँ यह दृष्टि है, वहाँ ब्रह्मचर्य की शुद्धि रहती है। जहाँ यह दृष्टि नहीं रहती, वहाँ जीभ निरंकुश होकर रहती है, मिर्च-मसालों की ओर लपकती है। इसीलिए कभी-कभी सीमा से अधिक खा लिया जाता है। ऐसा करने से शरीर का रक्त खौलने लगता है और शरीर में गर्मी आ जाती है। शरीर में गर्मी आ जाने पर मन में भी गर्मी आ जाती है। मन में गर्मी आ जाती है तो साधक भान भूल जाता है। और जब भान भूल जाता है तो दुनिया भर की चीजें खाने को तैयार हो जाता है।

आज का चौका देखो तो मालूम होता है कि घर के लोग खाने के सिवाय और कुछ भी नहीं जानते हैं। दुनिया भर का अगड़म—बगड़म वहाँ मौजूद रहता है। ऐसे मौक़े भी देखने में आये हैं कि यदि सन्त वहाँ पहुँच गये और आग्रह स्वीकार कर लिया तो उन चीजों को लेने देने में आधा घन्टा लग गया।

अभिप्राय यह है कि मनुष्य ने स्वाद के लिए अनेक-अनेक आविष्कार कर लिए हैं। भोजन के भाँति-भाँति के रूप तैयार कर लिए हैं। यह सब पेट के लिए नहीं, जीभ के लिए, स्वाद के लिए तैयार किए हैं। यह चार अंगुल का मांस का जो टुकड़ा (जीभ) है, उसका फैसला ही नहीं हो पाता। नाना प्रयत्न करने के पश्चात् भी जीभ तृप्त नहीं हो पाती। जीभ की आराधना के लिए मनुष्य जितना पचता है और प्रयत्न करता है, उसका आधा

प्रयत्न भी अगर वह परमात्मा की आराधना के लिए करे तो उसका कल्याण हो जाय। मगर इतना प्रयत्न करने पर भी वह कहाँ सन्तुष्ट होती है। वह तो जब देखो तभी लार टपकाती रहती है, अतृप्त ही बनी रहती है। मनुष्य मांस के इस टुकड़े के पीछे अपनी सारी ज़िन्दगी को बर्बाद कर देता है।

बचपन के दिन निकल जाते हैं, जवानी भी आकर चली जाती है, और बुढ़ापे के दिन आजाते हैं, तब भी बचपन की वृत्तियों से छुटकारा नहीं मिलता है। बुढ़ापे में भी खाने के लिए लड़ाइयाँ मची रहती हैं, संघर्ष होते हुए देखे जाते हैं।

यह स्थिति देखकर विचार होता है कि साठ-सत्तर वर्ष की ज़िन्दगी में मनुष्य ने क्या सीखा है? कभी-कभी पुराने सन्तों को भी हम जिह्वावशवर्त्ती हुआ देखते हैं। आहार आया और उनके सामने रख दिया गया। वे कहते हैं—क्या लाये? कुछ भी तो नहीं लाये! बुढ़ापे में भी जिसकी यह वृत्ति हो, उसने जीवन के बहुमूल्य सत्तर वर्ष व्यतीत करने के बाद भी क्या पाया है? रोटी आई है, दाल-शाक आया है, फिर भी कहते हैं—कुछ नहीं आया। इसका अर्थ यह है कि पेट के लिए तो सब कुछ आया है, पर जीभ के लिए कुछ नहीं आया।

तो इस चार अंगुल की जीभ पर नियंत्रण न कर सकने के कारण ही कभी-कभी मुसीबत का सामना करना पड़ता है। जीभ के सम्बन्ध में जब विचार करते हैं तो एक बात याद आ जाती है।

समर्थ गुरु रामदास वैष्णव सन्त थे। उन्होंने एक जगह चौमासा किया। आप जानते हैं कि जहाँ नामी गुरू आते हैं, वहां भक्त भी पहुँच ही जाते हैं। एक युवक व्यापारी था और अच्छे घर का लड़का था। वह और उसकी पत्नी रामदासजी के भक्त हो गये और उनकी आध्यात्मिक बातें सुनने लगे। इधर आध्यात्मिक बातें सुनते थे और उधर यह हाल था कि खाने के लिए रोज़ लड़ाई होती थी। किसी दिन रोटी सख्त हो गई तो कहा—'रोटी क्या है, पत्थर है।' और ज़रा नरम रह गई तो बोले—'आज तो कच्चा आटा ही घोल कर रख दिया है।'

इस प्रकार पति—पत्नी में प्रतिदिन संघर्ष मचा रहता। तो एक दिन उस युवक ने कहा—इससे तो साधु बन जाना ही अच्छा।

युवक ने जब ऐसी बात कही तो उसकी पत्नी डर गई। उसे ख्याल आया—कहीं सचमुच ही यह साधु न बन जाएँ।

किन्तु भोजन के प्रश्न पर उन दोनों में एक दिन कहा-सुनी हो ही गई। युवक ने क्रोध में आकर थाली को ऐसी ठोकर लगाई कि रोटी कहीं और दाल कहीं जाकर पड़ी। फिर वह बोला—बस, भोग चुके गृहस्थी का सुख। हाथ जोड़े इस घर को। अब तो साधु ही बन जाना है।

इस प्रकार कह कर वह घर से निकला और सीधा बाज़ार का रास्ता नाप कर हलवाई की दूकान पर पहुँचा। वहाँ उसने पेट भर खाना खा लिया! मगर स्त्री के लिए यह समस्या

कितनी कठिन थी ? युवक ने तो अपना पेट भर लिया, मगर स्त्री बेचारी क्या करती ? वह उसके बिना खाये कैसे खाती ? उसे भूखा रह कर ही दिन गुज़ारना पड़ा।

दूसरी बार फिर इसी प्रकार की घटना घटी। संयोगवश समर्थ गुरु रामदास भी वहां पहुँच गए। उन्हें देख कर स्त्री ने सोचा—'कहीं इन्हीं के पास न मुँड़ जाएँ' और वह ज़ोर-ज़ोर से रोने लगी।

गुरू विचार में पड़ गये। स्त्री फबक-फबक कर रो रही थी और जब उन्होंने रोने का कारण पूछा तो वह और ज्यादा रोने लगी ! गुरू ने कहा—आखिर बात क्या है ? घर में तुम दो प्राणी हो और वर्षों से साथ-साथ रह रहे हो। फिर भी दृष्टि-कोण में मेल नहीं बिठा सके !

तब स्त्री ने कहा—उनको मेरे हाथ का बना खाना अच्छा नहीं लगता है और कहते हैं कि वह साधु बन जायेंगे।

गुरू ने यह बात सुनी तो कहा—तुम्हें यह डर है तो उसे निकाल दो, क्योंकि मियाँ की दौड़ मस्जिद तक ही है। साधु बनने के लिए आएगा तो मेरे पास ही। मैं देख लूँगा कि वह कैसा साधु बनने वाला है ! तुझे धमकी दे तो तू कह देना कि साधु बनना है तो बन ही क्यों नहीं जाते ! इतना कह कर गुरू लौट गये।

और एक दिन जब फिर वैसा ही प्रसंग आया, तो युवक ने कहा—अच्छा तो मैं साधु बन जाऊँगा।

तब स्त्री ने कह दिया रोज़-रोज़ साधु बनने का डर दिखलाने से क्या लाभ है ? आपको साधु बनने में ही सुख मिलता हो तो आप साधु बन जाइए। मुझे जीवन चलाना है तो किसी तरह चला लूँगी !

युवक ने भी कड़क कर कहा—अच्छा, यह बात है ! तो अब ज़रूर साधु बन जाऊँगा।

यह कह कर वह घर से निकल पड़ा। मन में सोचा—साधु ही बनना है ! और वह समर्थ रामदास के पास जा कर बैठ गया। बहुत देर तक बैठा रहा। बातचीत करने के बाद उसने गुरू से कहा—आज आहार लेने नहीं पधारे ?

गुरू ने कहा—आज चेला आया है, इस कारण हमें प्रसन्नता है। आज आहार नहीं लाना है, व्रत रक्खेंगे !

गुरू का उत्तर सुन कर युवक विचार में पड़ गया ! फिर उसने कहा—गृहस्थ धर्म से मैं ऊब गया, महाराज ! अब मैं साधु-धर्म का पालन करना चाहता हूँ। आज्ञा हो महाराज !

गुरू बोले—मिल जायेगी आज्ञा !

मगर युवक के लिए तो एक-एक पल, पहर की तरह कट रहा था। उसने कहा—गुरुदेव, भूख के मारे मेरी तो आँतें कुल-बुला रही हैं।

गुरू—अच्छा, नीम के पत्ते सूंत लाओ और उन्हें पीस कर गोले बना लो।

उसने ऐसा ही किया। नीम के पत्ते पीसकर गोले बना लिए।

फिर वह सोचने लगा—यह खाने की चीज़ नहीं है, किन्तु गुरू जादूगर हैं तो उनके प्रभाव से यह गोले मीठे बन जाएँगे।

गोले तैयार हो गए देख गुरू ने कहा—अब तुम्हें जितना खाना हो सो खा लो।

युवक ने ज्योंही एक गोला मुँह में डाला तो वह ज़हर था। उसे वमन हो गया। जब वमन हो गया तो गुरू ने कहा—दूसरा उठा कर खाओ। और फिर वमन किया तो इस डंडे को देख रक्खो। यहाँ तो रोज़ यही खाने को मिलेगा!

युवक ने कहा—महाराज, इसे आदमी तो नहीं खा सकता।

तब समर्थ रामदास ने एक लड्डू उठाया और झटपट खा लिया।

युवक—आप तो खा गये, पर मुझसे तो नहीं खाया जा सकता।

गुरू—तेरी वाणी पर साधुपन आया है, अन्दर नहीं आया। अरे मूर्ख, उस लड़की को क्यों तंग किया करता है? साधु बनने का ढोंग क्यों करता है? साधु बन कर भी क्या करेगा? साधु बन गया और बाद में गड़बड़ की तो ठीक नहीं होगा।

अब युवक की अक़्ल ठिकाने आई। वह घर लौट आया। फिर उसने यह देखना बन्द कर दिया कि रोटी सख्त है या नरम है, कच्ची है या पक्की है, चुपचाप शान्त भाव से वह खा लेने लगा।

तो जिनके घर में खाने-पीने के लिए ही महाभारत का

अध्याय बँचा करता है, वे ऊँचे जीवन की साधना को कैसे प्राप्त कर सकते हैं ? अतएव जो साधना करना चाहते हैं, उन्हें खान-पान की लोलुपता को त्याग देना चाहिए और वास्तविक आवश्यकता से अधिक नहीं खाना चाहिए।

हे मनुष्य ! तू खाने के लिए नहीं बना है, किन्तु खाना तेरे लिए बना है। तुझे भोजन के लिए जीना नहीं है, जीने के लिए भोजन है। भोजन तेरे जीवन—विकास का साधन होना चाहिए। कहीं वह जीवन-विनाश का साधन न बन जाये।

इस प्रकार कान और आंख के साथ-साथ जो जीभ पर भी पूरी तरह अंकुश रखते हैं, वही ब्रह्मचर्य की साधना कर सकते हैं। जो अपनी जीभ पर अंकुश नहीं रक्खेगा और स्वाद-लोलुप होकर चटपटे मसाले आदि उत्तेजक वस्तुओं का सेवन करेगा, जो राजस और तामस भोजन करेगा, उसका ब्रह्मचर्य निश्चय ही ख़तरे में पड़ जायगा।

ब्रह्मचर्य की साधना जितनी उच्च और पवित्र है, उतनी ही उस साधना में सावधानी की आवश्यकता है। ब्रह्मचर्य की साधना के लिए इन्द्रियनिग्रह की आवश्यकता है और मनोनिग्रह की भी आवश्यकता है। ब्रह्मचर्य के साधक को फूँक-फूँक कर पैर रखना पड़ता है। यही कारण है कि हमारे यहाँ, शास्त्रकारों ने, ब्रह्मचारी के लिए अनेक मर्यादाएँ बतलाई हैं। शास्त्र में कहा है—

आलओ थीजणाइण्णो, थी—कहा य मणोरमा।

सथवो चेव नारीणं, तेसिमिन्दिय-दंसणं ॥
कूइयं रुइयं गीअं, हास भुत्तासिआणि य ।
पणीअं भत्तपाणं च, अइमायं पाण भोयणं ॥

स्त्री जनों से युक्त मकान में रहना और बहुत आवागमन रखना, स्त्रियों के सम्बन्ध को लेकर मनोमोहक बातें करना, स्त्री के साथ एक आसन पर बैठना, बहुत घनिष्टता रखना, उनके अंगोंपांगों की ओर देखना, उनके कूजन, रुदन और गायन को मन लगा कर सुनना, पूर्व-भुक्त भोगोपभोगों का स्मरण किया करना। उत्तेजनाजनक आहार-पानी का सेवन करना और परिमाण से अधिक भोजन करना, यह सब बातें ब्रह्मचारी के लिए विष के समान हैं। और यही बात ब्रह्मचारिणी के लिए भी समझना चाहिए।

अभिप्राय यह है कि कान, आँख, और जीभ पर तथा मन पर जो जितना क़ाबू पा सकेगा, वह उतनी ही दृढ़ता के साथ ब्रह्मचर्य की साधना के पथ पर अग्रसर हो सकेगा। इस रूप में जो जीवन को सीधा-सादा बनाएगा, उसमें पवित्रता की लहर पैदा हो जाएगी और वह अपने जीवन को कल्याणमय बना सकेगा। तब सारी जड़ और जीव प्रकृति पर उसका निष्कंटक शासन स्थापित हो जाएगा।

ब्यावर,
१३-११-५०।

ब्रह्मचर्य-सूत्र

अवभ्भ चरियं घोरं,

पमायं दुरहिट्ठियं।

नायरन्ति मुणी लोए,

भेयाय यण वज्जिणो ॥१॥

जो मुनि संयम घातक दोषों से दूर रहते हैं, वे लोक में रहते हुए भी दुःसेव्य, प्रमाद स्वरूप और भयंकर अब्रह्मचर्य का कभी सेवन नहीं करते।

विभूसं परिवज्जेज्जा,

सरीर-परिमंडणं।

बंभचेर रओ भिक्खू,

सिंगारत्थं न धारए ॥२॥

ब्रह्मचर्य-रत भिक्षु को शृंगार के लिए शरीर की शोभा और सजावट का कोई भी शृंगारी काम नहीं करना चाहिए।

जहा दवग्गी पउरिन्धणे वणे,

समारुओ नोवसमं उवेइ।

एविन्दियग्गी वि पगाम भोइणो,

न बंभयारिस्स हियाय कस्सई ॥३॥

जैसे बहुत ज्यादा ईंधन वाले जंगल में पवन से उत्तेजित दावाग्नि शान्त नहीं होती, उसी तरह मर्यादा से अधिक भोजन

करने वाले, ब्रह्मचारी की इन्द्रियाग्नि भी शान्त नहीं होती। अधिक भोजन किसी को भी हितकर नहीं होता।

कामाणुगिद्धिप्प भवं खु दुक्खं,
सव्वस्स लोगस्स सदेवगस्स।
जं काइयं माणसियं च किंचि,
तस्सन्तगं गच्छई वीयरागो ॥४॥

देवलोक सहित समस्त संसार के शारीरिक तथा मानसिक सभी प्रकार के दुःख का मूल एक मात्र काम भोगों की वासना ही है। जो साधक इस सम्बन्ध में वीतराग हो जाता है, वह शारीरिक तथा मानसिक सभी प्रकार के दुःखों से छूट जाता है।

देव दाणव गन्धव्वा,
जक्ख रक्खस किन्नरा।
बंभयारि नमंसन्ति,
दुक्करं जे करेन्ति तं ॥५॥

जो मनुष्य इस प्रकार दुष्कर ब्रह्मचर्य का पालन करता है, उसे देव, दानव, गन्धर्व, यक्ष, राक्षस और किन्नर आदि सभी नमस्कार करते हैं।

—महावीर वाणी